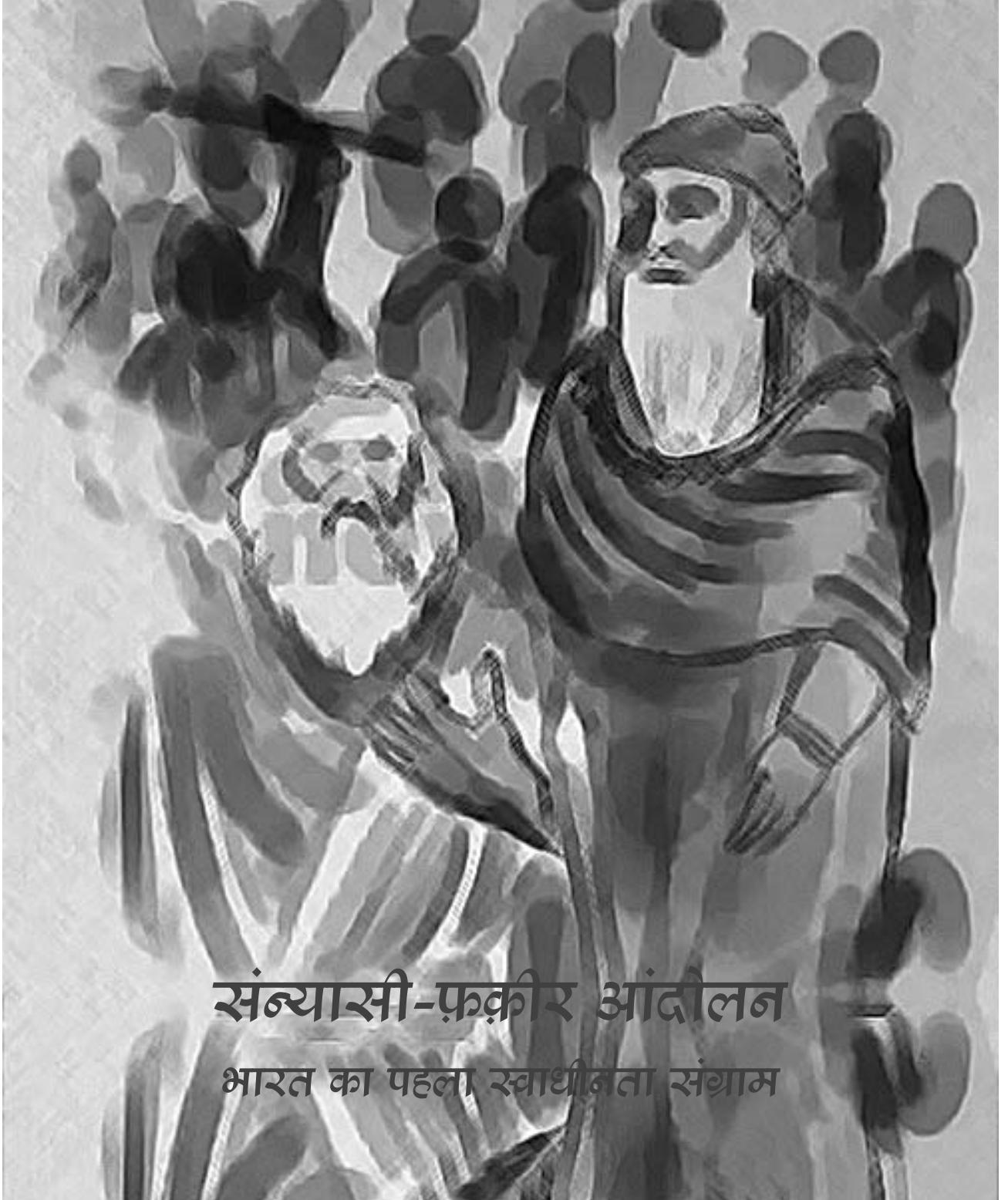


# समरथ



अलख श्लाही एक है,  
नाम धराया दोय  
कहे कबीर दोय नाम सुदी,  
भरम मति यझे कोय

जुलाई-सितंबर, 2022 ♦ नई दिल्ली



संन्यासी-फ़कीर आंदोलन  
भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम

---

# नाहि तो जन्म नसाई

ये बात आमतौर पर मान ली गई है कि ये नेशन स्टेट का युग है अर्थात् किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोग चाहे वह किसी भी धर्म, भाषा और जातीय समूह से सम्बन्ध रखते हों समान नागरिक हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। यही वह आदर्श थे जो हमारे स्वतंत्रता संग्राम में भी सक्रिय थे और आज़ादी के बाद संविधान निर्माण की प्रक्रिया में संविधान सभा के वाद-संवाद में मूल विषय थे और जिन्हें ही संविधान के आदर्शों और उद्देश्यों में प्राथमिकता दी गई। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सामाजिक स्तर पर कुछ ऐसे कारक भी मौजूद थे जो धार्मिक भेदभाव, सांप्रदायिकता और अलगाव पर आधारित थे जिनके नतीजे में देश का विभाजन हुआ और द्विराष्ट्रीय विचारधारा की बुनियाद पर एक नया मुल्क पाकिस्तान वजूद में आया मगर 25 वर्षों के अंदर ही इसके भी दो टुकड़े हो गए, जिससे इस विचारधारा की कलाई खुल गई।

देश का विभाजन जिन कठिन परिस्थितियों में हुआ उसमें भारत में भी किसी एक धर्म के वर्चस्व के आधार पर राष्ट्र निर्माण की संभावना विद्यमान थी। मगर हमारे रहनुमाओं के पांव नहीं डगमगाए क्योंकि वे विभिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृति की रंगारंगी से सदियों में निर्मित साझी विरासत को देश की असल पहचान समझते थे जिसे हर कीमत पर बाकी रखने को उन्होंने अपना कर्तव्य समझा, जिसके बिना असल भारत का सपना अधूरा था। अलबत्ता वह विचारधारा भी जो बहुसंख्यकवाद की तह में काम कर रही थी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई बल्कि स्वयं को निरंतर सशक्त और प्रभावशील बनाती रही और कुछ ऐतिहासिक कारणों से इसे फलने-फूलने का ऐसा अवसर मिला कि आज उसकी पहुंच सत्ता तक हो गई है। इस विचारधारा का प्रमुख प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सोच और दृष्टिकोण के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, मगर उसके वर्तमान प्रमुख श्री मोहन भागवत अपने कुछ वक्तव्यों की वजह से इन दिनों चर्चा में हैं। कुछ मुस्लिम बुद्धिजीवियों के साथ उनकी हालिया मुलाकात को भी बहुत अहमियत दी जा रही है लेकिन अब तक संघ के रिकॉर्ड के मद्देनज़र इस संदर्भ में कुछ संदेह भी व्यक्त किए जा रहे हैं क्योंकि उन्होंने जो बातें कही हैं वह संघ के मूल दृष्टिकोण से इतनी भिन्न हैं कि स्वयं उनकी पंक्ति के लोगों ने भी उनको अपनी आलोचना निशाना बनाया है।

श्री भागवत ने पिछले वर्ष जुलाई में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि हिंदू-मुस्लिम टकराव का केवल एक ही समाधान संवाद है। उन्होंने यही बात दोहराते हुए यह भी कहा कि हिंदू और मुसलमान अलग-अलग नहीं एक हैं। उन्होंने यहां तक कहा कि हिंदू और मुसलमानों का डीएनए एक है और मुसलमान इस देश के बराबर के नागरिक हैं। उन्होंने इस ऐतिहासिक तथ्य का भी उल्लेख किया कि अकबर और राणा प्रताप के बीच हल्दीघाटी का युद्ध कोई धार्मिक संघर्ष नहीं था क्योंकि अकबर की सेना की कमान एक राजपूत राजा मानसिंह के हाथ में थी जबकि असंख्य मुसलमान राणा प्रताप के लिए सर-धड़ की बाज़ी लगाए हुए थे। उनका यह कहना भी पूर्णतः सत्य है कि इस देश में सांप्रदायिकता का बीज अंग्रेजों ने ही बोया।

संघ की विचारधारा में रातों-रात किसी मूल परिवर्तन की आशा तो नहीं की जा सकती परंतु उसके प्रमुख के इस तरह के वक्तव्य और एक अंतरधर्म संवाद के उनके प्रयासों का स्वागत अवश्य करना चाहिए और अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधियों को भी इन्हें किसी 'रणनीति' का हिस्सा समझने के बजाय इस सकारात्मक सोच का इसी ढंग से जवाब देना चाहिए। बहुत सी ज़मीनी सच्चाईयों की समझ असल परिस्थितियों के व्यवहारिक और वास्तविक अनुभव के बाद ही पैदा होती है और ज़मीनी सच्चाई यह है कि इस समय हमारा देश भयानक आर्थिक संकट की लपेट में है। गरीबी और बेरोजगारी और स्वास्थ्य की समस्याएं मुंह फाड़े खड़ी हैं जिनके निकट भविष्य में और भी गंभीर होने का डर है जिनके निवारण के बिना विश्वगुरु बनने का सपना साकार नहीं होगा। इनसे निबटने के लिए देश में अमन, शांति और सौहार्द का वातावरण होना जरूरी है। इन हालात में क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि दो साल बाद होने वाले आम चुनाव अनावश्यक विषयों को त्यागकर इन्हीं मुद्दों के आधार पर लड़े जाएंगे।



धूमिल

## देश प्रेम : मेरे लिए

*एक बीमार आदमी का वक्तव्य*

दिन भर के बाद  
भोजन कर लेने पर  
देश-प्रेम से मस्त एक गीत  
गुनगुनाता हूँ  
जिसे अमीर खुसरो ने लिखा है :  
अन्य लोगों की तरह  
मैं इतना कृतघ्न नहीं कि उस ज़मीन को धिक्कार दूँ  
जिस पर मेरा जन्म खड़ा है  
मेरे लिए मेरा देश—  
जितना बड़ा है : उतना बड़ा है।

वह दिन बीत गया  
जब किसी ने रिपब्लिक की जिल्द पर  
सुकरात की अत्यंत कामातुर तस्वीर चिपका दी  
और मैं दुखी हो गया।

वह दिन भी बीत गया—  
जब ज़मीन पर देशों की सीमाएँ खिंचते ही  
मेरे मुख पर झुर्रियाँ बढ़ जाती थीं।

किंतु जो कभी नहीं किया—  
वही मैंने कब सीखा  
रोना—और भूख के लिए  
निरा पागलपन है  
देश-प्रेम मेरे लिए—  
अपनी सुरक्षा का  
सर्वोत्तम साधन है।

सच्चाई अब मुझसे इतनी करीब है  
कि रोशनी का होना भी  
मेरे लिए केवल तहज़ीब है।

(हर चीज़ साफ़ है—  
अपने हैं आप तो  
सौ खून माफ़ है।)  
नेकर के नीचे का सारा नंगापन  
कॉलर के ऊपर उग आया है :  
चेहरे बड़े धिनौने लगते,  
पर इससे क्या फ़र्क पड़ गया  
अगर बड़ी छायाओं वाले बौने लगते

और अंत में—  
सबकी सुनकर सब कुछ गुनकर  
मैंने भी नक्शे के ऊपर  
लाल क़लम से जगह घेर दी  
और उसी सीमा के भीतर  
अपने घायल कबूतरों को  
फिर से उड़ना सिखा रहा हूँ।

साभार : hindwi.org

# अगस्त क्रांति का पहला दिन : मुंबई में

के. विक्रम राव

कुछ पर्व, चन्द्र तिथियां ऐसी होती हैं जिन पर सिलवट या शिकन समय के थपड़े डाल नहीं पाते। अगस्त क्रांति का पहला दिन (नौ अगस्त 1942 : भारत छोड़ो) आज भी वैसे ही तरौताजा हो जाता है, जैसा 79 वर्ष पहले था। हर बार इसका नया तेवर, अलग अन्दाज दिखता है जो कभी फिरंगियों का सामना करते समय उभरा था। सन् 42 की जुलाई की एक शाम थी दो अंग्रेज युवतियां लम्बी, सलेटी कार में ब्रिटिश सेनाध्यक्ष के निवास (तीनमूर्ति) से वायसराय हाउस (राष्ट्रपति भवन) की ओर चलीं। उनकी बातचीत का विषय था: दिल्ली का खुशक मौसम, बिनी बार्न्स की फिल्म 'थ्री गर्ल्स' और पिछली रात का डिनर-डांस। सीट पर पड़े अखबार के बड़े अक्षरों वाले शीर्षक को देख एक बोली, "इन कांग्रेसियों ने बम्बई में अगर हमारे खिलाफ कुछ किया, तो इनकी कैद लम्बी होगी। पापा बता रहे थे।"

वायसराय लार्ड लिनलिथगो और कमाण्डर-इन-चीफ सर आर्चिबाल्ड वेवेल की इन बेटियों की बात सुन रहा था मौन हिन्दुस्तानी ड्राइवर। उसे वायसराय साहब की पुत्री को वेवेल साहब के निवास स्थान (आज का तीनमूर्ति) से घर (आज राष्ट्रपति भवन) लाने का आदेश हुआ था।

राष्ट्रीय कांग्रेस के मुंबई अधिवेशन में शरीक होते एक कांग्रेसी नेता को दिल्ली स्टेशन ले जाते समय उनके ड्राइवर ने बताया, "साहब, इस बार आप शायद जल्दी वापस न लौटें। मेरे साथी से, जो बड़े लाटसाहब के यहां काम करता है, पता लगा कि कम से कम जापानियों की हार होने तक रिहाई की गुंजाइश नहीं है।"

इतिहास ने इस घटना को "भारत छोड़ो आन्दोलन" बताया। विंस्टन चर्चिल ने इसे "बगावत जो कुचल दी गयी" कहा। क्रान्तिकारी जनवाद के पुरोहित कम्युनिस्टों की नजर में यह हिटलरी षडयन्त्र था। विभाजन के पक्षधर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की राय में यह अविवेकी कदम था।

इस रोमांचक वाक्ये के विषय में इस दौर में काफी लिखा

और कहा गया। लेकिन सबसे सजीव विवरण घटनास्थल (गवालिया टैंक) के समीपस्थ एक पुरानी किताब की दुकान के वृद्ध मराठी मालिक से छह दशक पूर्व (टाइम्स आफ इंडिया के रिपोर्टर के नाते) मैंने सुना था। उनकी आंखों के समक्ष पूरा चित्र उतर आया। बदली छाया थी। मौसम नम था। शामियाने में बैठे बीस हजार लोगों में खद्दरधारी तो थे ही, रंगीन व भड़कीले लिबास में महिलाएं काफी थी। विजयनगरम के महाराज कुमार किन्क्रेटर विज्जी और उद्योगपति जे.आर.डी. टाटा शामिल थे। पैंतीस हजार वर्ग फीट के मैदान में उपस्थित थे 350 पत्रकार जिनमें रूसी संवाद एजेन्सी तास के प्रतिनिधि और चीनी संवाददाता भी थे। मंच पर कार्यसमिति के लोगों के साथ एक गैर-सदस्य भी था : जेल से छूटकर आये, दक्षिण के जनप्रिय नेता एस. सत्यमूर्ति। उन्होंने राजगोपालाचारी के असहयोग की क्षतिपूर्ति कर दी। कार्यवाही की शुरुआत में वन्देमातरम् हुआ, जिसे सुनकर यूरोपीय अखबार वाले भी खड़े हो गये।

प्रस्ताव पेश करते हुये जवाहरलाल नेहरू ने पूछा : "दो सौ साल के विदेशी शासन के बाद आजादी मांगना क्या गुनाह है" तालियों की धुन के बीच अनुमोदक सरदार वल्लभभाई झवेरभाई पटेल ने अंग्रेजों से सीधी अपील की, "शासन मुस्लिम लीग को दो, चाहे डाकुओं को, पर हिन्दुस्तानियों को सौंपकर भारत से तो जाओ।" अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा, "सत्ता का हस्तान्तरण इसी वक्त हो।"

महात्मा जी सौम्य थे, शायद वक्त की गम्भीरता के कारण। उनके शब्द सन्तुलित थें, "मैं रहूं या चला जाऊं, भारत स्वाधीन होकर रहेगा।" बिजली कौंधी, पण्डाल में गूंजा "करेंगे या मरेंगे।"

दूसरे दिन गोधूलि के समय ढाई सौ प्रतिनिधियों में सिर्फ 13 ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव का विरोध किया; 12 कम्युनिस्ट थे और तेरहवें ने अपने कम्युनिस्ट बेटे के कहने पर ऐसा किया था। अधिवेशन के इस निर्णय से देश को दिशा मिली, जनता को कर्म का सन्देश।

## प्रस्ताव के बाद गिरफ्तारियां

बाजी अब सरकार की थी। जापान से करारी चोट खाकर, बहादुरी से पीछे भागते अंग्रेजों ने निहत्थे कांग्रेसी नेता व कार्यकर्ता पर फतेह पाने की पूरी तैयारी कर रखी थी। सूरज निकलने के पहले ही गिरफ्तारियां इस तेजी से हुईं कि कुछ लोगों की गुसल आधी रह गयी, कुछ अपना चश्मा भूल गये, कई अपने कपड़े और किताबें छोड़ आये।

अल्टामाउण्ट रोड स्थित मकान के दरवाजे पर दस्तक सुनकर अधूरी नींद से चौबीस-वर्षीया इन्दिरा प्रियदर्शिनी ने किवाड़ खोले। सामने कुछ गोरों को देखकर वह समझी अमरीकी टेलीविजन कम्पनी के लोग पिता जवाहरलाल नेहरू का पूर्व-निर्धारित इण्टरव्यू लेने आये हैं। जब ज्ञात हुआ सादी पोशाक में यूरोपीय पुलिस वाले हैं। तो नेहरू ताली पीटते खिलखिला उठे, “अहा, आ गये, वे लोग आ गये।”

सिर में भारीपन महसूस कर दो एस्प्रीन की टिकिया चाय के साथ लेकर मौलाना आजाद पिछली शाम के अध्यक्षीय भाषण की थकान दूर कर रहे थे। घड़ी ने भोर के चार बजाए। किसी ने उनका पांव छुआ कि वे उठ गये, देखा मेजबान भूलाभाई देसाई का बेटा भूरा (वारन्ट) कागज लिये पैताने खड़ा है। डेढ़ घण्टे बाद वे पुलिस की गाड़ी में सवार हुए।

ब्रह्ममूर्त में महात्मा गाँधी आदतन उठ गये। महादेव देसाई ने सूचना दी कि बाहर खड़े पुलिस कमिश्नर बटलर ने पूछा है कि चलने के लिए कितना समय चाहिए। बिरला हाउस घिर गया था।

गांधीजी ने नियमित ढंग से बकरी का दूध और फल के रस का जलपान किया। सबने मिलकर ‘वैष्णवजन तो तेणे कहिए’ गाया। कुमारी अमतुल सलाम ने कुरान की कुछ आयतें पढ़ी। कुमकुम लगने और हार पहनने के बाद गाँधी जी मीरा बहन और देसाई के साथ चले। पुलिस के साथ सैनिक अधिकारी भी थे।

कस्तूरबा का शिवाजी पार्क में रविवार की शाम को भाषण था। बिरला हाउस दोपहर में पहुंचकर पुलिस ने पूछा, क्या सार्वजनिक सभा स्थगित की जा सकती है। कस्तूरबा अविचल थीं। शान्ति-भंग के अपराध में उनके नाम भी ताजा वारंट कटा। वे जेल से जीवित नहीं लौटीं। पूर्वाभास हुआ या वक्त की पाबन्दी थी कि सरोजिनी नायडू ने आवश्यक सामान बांध रखा था। ‘मैंने सोचा, आप और जल्दी आयेँगे’, वे इन्स्पेक्टर से बोलीं। पुलिस के मलाबार हिल पहुंचते ही वे उनके साथ रवाना हो गयीं। ‘मुझे सुबह टहलने की आदत है। मैं पैदल ही चलूंगा’ कहा बम्बई राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री बी. जी. खेर ने। उन्हें सरकारी गाड़ी में सवार होना पड़ा।

## चलते हुए जेलखाने

विक्टोरिया (शिवाजी) टर्मिनस स्टेशन पर खड़ी स्पेशल ट्रेन

में बागियों को बैठाया गया। एक फौजी अफसर ने गिनती शुरू की। तीन बार गलती हुई तो चौथी दफा जोरों से गिना, “एक दो.....तीस...।” इसी बीच मौलाना आजाद बोल पड़े, “बत्तीस।” अफसर को भ्रम हो गया और फिर गिनती शुरू की। तीन ट्रक में लदे चालीस और कैदी आ गये। गाड़ी पुणे की ओर चली। यह ट्रेन नहीं, चलता हुआ जेल था। गाड़ी चिंचवाड स्टेशन पर रूकी और गांधीजी को मोटर से पुणे के आगा खां महल में तथा बाकी को यरवदा जेल और अहमदनगर स्थित चांद बीबी के किले में कैद रखा गया। हालांकि पहले योजना थी कि युगाण्डा या दक्षिण अफ्रीका के जेल में ये नेता रखे जायें।

## नेताओं की गिरफ्तारी से फैला विद्रोह

सन् 42 में रविवार को अखबार नहीं छपते थे। विशेषांक द्वारा नेताओं की कैद की खबर फैली। इन गिरफ्तारियों का प्रभाव हर जगह हुआ। विद्रोह फैल गया।

उधर गवालिया टैंक मैदान का आकार ही बदल गया। सफेद खादी की जगह खाकी-नीली वर्दियों ने ले ली थी। फिर भी ध्वजारोहरण हुआ। अरूणा आसफअली (जिनकी जन्मशती जुलाई में पड़ती थी) ने नेताओं की गिरफ्तारी की सूचना दी। जमा लोग उद्विग्न थे। इतने में पुलिस ने मैदान खाली करने का निर्देश दिया। अर्धवृत्ताकार में खड़ी दिलेर देश सेविकाओं ने चेतावनी अनसुनी कर दी। हमले की शुरुआत आंसु गैस से हुई। वे सब जमीन पर लेट गयीं, मैदान नहीं छोड़ा। पुलिस अफसर आगे बढ़ा और तिरंगा गिराने लगा। दो युवकों ने प्रतिरोध किया और अस्पताल पहुंचाये गये।

तभी की बात है। स्थानीय अंग्रेजी दैनिक में शीर्षक था : “सभी काम बन्द, शहर में आम हड़ताल।” काम की थकान से पस्त रिपोर्टर, जिसने यह खबर दी थी, स्वयं को कोस रहा था कि वह जनता की बगावत में शामिल नहीं हो पाया। हिंसक वारदातों के बावजूद भी गोरे-काले के रंग-विवेक से जन आन्दोलन परे रहा। ब्रिटिश सैनिक क्लाइव ब्रेन्सन, जो चित्रकार और कम्युनिस्ट था, अगस्त, सन् 42 में मुम्बई में था। वर्दी पहने वह कम्युनिस्ट पार्टी दफ्तर की तलाश में लोगों से पूछता शहर घूम रहा था। सैनिक और पुलिस की गोलियों से जनता भूनी जा रही थी। ऐसे आतंकित वातावरण में ब्रेन्सन सुरक्षित ही रहा। उसने लिखा, “क्या आदर्श राष्ट्रीयता है। निहत्थों को हम मौत दे रहे हैं, यही लोग मेरी मदद कर मुझे कम्युनिस्ट पार्टी दफ्तर का सही मार्ग बता रहे हैं।”

गवालिया टैंक मैदान में जहां अब बगीचा है, आने वाले कल की कल्पना में खोये स्वतन्त्र युवा-युवतियों को देखकर पिछली पीढ़ी के बुजुर्गवार को राहत मिली कि उनका बीता हुआ कल काम आया। धुंधली शाम नई सुबह की राह बना रही थी।

साभार : newstrack.cm

# संन्यासी फ़क़ीर आंदोलन : भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम

सुमन मिश्रा

बात उस समय की है जब अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर अपना अधिकार जमाने के पश्चात इसे लूटना प्रारंभ कर दिया था। हिन्दुस्तान की जनता उनके तरह-तरह के हथकंडों से परेशान हो चुकी थी। अंग्रेजों ने अपने साथ यहाँ के जमींदारों और साहूकारों को भी मिला लिया था और इनकी सांठ-गाँठ से देश की गरीब जनता त्रस्त थी। हिन्दुस्तान की जनता आखिरकार कब तक यह अत्याचार सहती ? आखिरकार विद्रोह शुरू हो गए और अंग्रेज लुटेरों तथा उनके गुर्गे जमींदारों-साहूकारों को मार भगाने के प्रयास में जनता जुट गयी। यह संग्राम देश का पहला स्वाधीनता संग्राम था और इस संग्राम के समय समय पर अनेक रूप दिखाई पड़े।

पलासी और बक्सर के युद्धों में ब्रिटिश पूँजीवादियों की विजय के बाद ही हम किसानों और कारीगरों को इन नये लुटेरों और उनके समर्थक जमींदारों तथा साहूकारों से संघर्ष करते पाते हैं। उनका पहला विद्रोह इतिहास में संन्यासी-विद्रोह के नाम से मशहूर है। यह विद्रोह 1763 में बंगाल और बिहार में शुरू हुआ और 1800 तक चलता रहा।

मुगलों के हाथों से जब सत्ता अंग्रेजों के पास गई, तो किसानों व जमींदारों से वसूले जाने वाले करों के हकदार अंग्रेज हो गए किन्तु, दोनों की टैक्स वसूली का तरीका अलग था। अगर कोई कर नहीं दे पाता था, तो मुगल शासक के कारिंदे उसके नाम पर वो टैक्स चढ़ा देते और बाद में उससे वसूल करते थे। अंग्रेजों ने टैक्स सिस्टम में बदलाव कर दिया। इसके तहत अगर कोई टैक्स देने में असमर्थ होता, तो अंग्रेज उसकी ज़मीन की बोली लगाकर बेच देते थे। इस व्यवस्था के विरोध में आंदोलन शुरू हो गए।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने इस विद्रोह का नाम संन्यासी विद्रोह दिया था और इसे 'हिन्दुस्तान के यायावरों का पेशेवर उपद्रव, दस्युता और डकैती' बताया था। कितने ही इतिहासकारों ने हेस्टिंग्स के सुर में सुर मिलाया है लेकिन सरकारी दस्तावेजों की छानबीन करने से पता चल जाता है कि यह ब्रिटिश

पूँजीवादियों और हिन्दुस्तानी जमींदारों के खिलाफ़ किसानों का विद्रोह था। विद्रोही सेना और विद्रोह के नेता जहाँ गये, साधारण किसानों ने उनका स्वागत किया, उनकी सहायता की और विद्रोही सेना में शामिल होकर उसकी शक्ति बढ़ायी। ये विद्रोही और कोई नहीं, मुगल साम्राज्य की सेना के बेकारी और भूख से पीड़ित सैनिक तथा भूमिहीन और गरीब किसान थे। हन्टर ने लिखा है कि ये जीवन-यापन के शेष उपाय का सहारा लेने को बाध्य हुए थे। ये तथाकथित गृहत्यागी और सर्वत्यागी संन्यासियों के रूप में पचास-पचास हजार के दल बनाकर पूरे देश में घूमा करते थे।

सरकारी इतिहास और गजेटियर के रचयिताओं में प्रमुख तथा ब्रिटिश प्रशासक ओमैली ने हन्टर के मत को दोहराया है। उनके मतानुसार विद्रोही सेना बहुत से सैनिकों की जीविका चली गयी, उनकी संख्या लगभग 20 लाख थी। जमीन से बेदखल, सर्वहारा किसानों और कारीगरों ने उनकी संख्या बढ़ायी।

इस विद्रोह में मुख्यतः तीन शक्तियाँ शामिल थी : (1) प्रधानतः बंगाल और बिहार के कारीगर और किसान जिन्हें ब्रिटिश पूँजीवादियों ने तबाह कर दिया था, (2) मरते हुए मुगल साम्राज्य की सेना के बेकारी और भूख से पीड़ित सैनिक जो खुद किसानों के ही परिवार के थे, और (3) संन्यासी और फ़क़ीर जो बंगाल और बिहार में बस गये थे और किसानों में लग गये थे।

इस विद्रोह के मूल शक्ति किसान थे। बेकार और भूखे सैनिकों ने इन्हें सेना के रूप में संगठित कर संघर्ष को रूप दिया था। संन्यासियों और फ़क़ीरों ने आत्म बलिदान का आदर्श और विदेशी पूँजीवादियों से देश की स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित किया।

संन्यासियों और फ़क़ीरों ने संग्रामी किसानों और कारीगरों के सामने विदेशियों के चंगुल से देश की मुक्ति और धर्मरक्षा का आदर्श उपस्थित किया।

इस आंदोलन में हिस्सा लेने वाले मलंग दीवानगान-ए-आतिशी से बावस्ता थे। यह सिलसिला मदारिया की एक शाखा है।

मदारिया सिलसिला जाकर सैयद बदीउद्दीन शाह मदार से जुड़ता है जो शेख मुहम्मद तैफूर बुस्तामी के मुरीद थे। इनकी दरगाह मकनपुर में स्थित है।

कहा जाता है कि मशहूर फ़कीर मजनु शाह मलंग जो अठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए दहशत का सबब बना हुआ था, लड़ाई पर जाने से पूर्व कुछ रहस्यमयी अग्नि क्रियाएं करता था। यह आंदोलन अंग्रेजों के लिए मुश्किल कई कारणों से था। पहला कारण तो यह था कि इन फ़कीरों के बीच सूचना का आदान-प्रदान बड़ी ही तीव्र गति से होता था। दूसरा कारण था इन फ़कीरों के पास अपना कोई ठिकाना नहीं था इसलिए इन्हें ढूंढना बड़ा मुश्किल था। इन फ़कीरों और संन्यासियों की जनता में भी बहुत इज्जत थी और इनका डर भी व्याप्त था इसलिए इनके बारे में मालूमात हासिल करना ख़ासा मुश्किल था।

सूफ़ियों और संन्यासियों ने लोगों को यह शिक्षा दी कि देश को मुक्त करना सबसे बड़ा धर्म है। पराधीन जाति की मुक्ति के लिए सर्वस्व त्याग, मातृभूमि में अचल भक्ति, अन्याय के विनाश और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए संन्यास और प्रबल विदेशी शक्ति के विरुद्ध देशवासियों के एक होने का आह्वान—ये सब उस सबसे बड़े धर्म के पालन का सर्वोत्तम पथ है।

डॉ. भूपेन्द्र नाथ दत्त ने लिखा है : “ढाका के रमना के काली मन्दिर के महाराष्ट्रीय स्वामी जी कहा करते थे कि संन्यासी योद्धा ‘ॐ वन्दे मातरम्’ का रणनाद करते थे”।

बंगाल और बिहार में फैले इस विद्रोह के नेता मजनु शाह मलंग, मूसा शाह, चिराग़ अली, भवानी पाठक, देवी चौधरानी, कृपानाथ, नूरुल मुहम्मद, पीताम्बर, अनूप नारायण, श्रीनिवास आदि थे। इनमें मजनु शाह मलंग की भूमिका सबसे ज्यादा उल्लेखनीय है।

ये विद्रोही सैकड़ों और हज़ारों की तादाद में अपने नेता के नेतृत्व में चलते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी की कोठियों और जमींदारों की कचहरियों को लूटते और उनसे कर वसूल करते थे। ब्रिटिश शासकों ने उन्हें डकैत की संज्ञा दी, लेकिन बात इसके विपरीत थी। डकैत तो ब्रिटिश शासक थे, जो हिन्दुस्तान की जनता को लूट रहे थे, तबाह कर रहे थे। ये विद्रोही इन विदेशी डकैतों और उनके देशी छुटभड़ियों के खिलाफ़ लड़ रहे थे और उन्हें भगाने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने गरीबों को सताया हो इसका कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता उल्टे दर्जनों उदाहरण मिलते हैं जहाँ किसानों ने विद्रोहियों की सक्रिय सहायता की, उन्हें रसद दी, रहने की जगह दी और उनके साथ मिलकर ब्रिटिश सेना का मुकाबला किया।

संन्यासी फ़कीर विद्रोहियों का सबसे पहला हमला ढाका की ईस्ट इंडिया कम्पनी की कोठी पर हुआ। यह कोठी ढाका के जुलाहों, बुनकरों और कारीगरों पर हुए जुल्मों का केन्द्र थी इसीलिए विद्रोहियों

ने ब्रिटिश सौदागरों की लूट के इस केन्द्र पर सबसे पहले आक्रमण किया। रात के अंधेरे में विद्रोहियों ने चारों तरफ से कोठी को घेर लिया। ॐ वन्दे-मातरम् का नारा बुलन्द कर, उन्होंने कोठी पर आक्रमण किया। कोठी के अंग्रेज अपनी धन-सम्पत्ति छोड़ पीछे के दरवाजे से नाव पर बैठ कर भाग निकले। कोठी के पहरेदार उनसे भी पहले भाग खड़े हुए। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्ताधर्ता राबर्ट क्लाइव ने अंग्रेज सौदागरों की इस बुजदिली से नाराज होकर इस कोठी के व्यवस्थापक को पदच्युत कर दिया। विद्रोही काफी दिनों तक इस कोठी पर कब्जा जमाये रहे। दिसम्बर 1763 के अन्त में कैप्टन ग्रान्ट नामक अंग्रेज सेनापति ने बड़ी सेना ले जाकर भयंकर युद्ध के बाद फिर से कोठी पर कब्जा किया।

विद्रोहियों का दूसरा हमला राजशाही जिले की रामपुर की अंग्रेज कोठी पर मार्च 1763 पर हुआ। वे कोठी की सारी धन-दौलत उठा ले गये। साथ ही उसके व्यवस्थापक बेनेट को कैद कर पटना भेज दिया गया। वहाँ बेनेट विद्रोहियों के हाथों मारा गया। 1764 में उन्होंने दोबारा हमला कर इस कोठी और स्थानीय जमींदारों को लूट लिया।

कूचबिहार की गद्दी के लिए इस राज्य के सेनापति रुद्रनारायण और राजवंश के उत्तराधिकारी के बीच मतभेद चल रहा था। रुद्रनारायण ने अंग्रेजों की सहायता मांगी जबकि राजवंश ने बाध्य होकर उत्तर बंगाल के विद्रोहियों की सहायता मांगी। अंग्रेज सेनापति लेफ्टिनेन्ट मॉरिसन के पहुँचने के पहले ही विद्रोहियों ने कूचबिहार पर कब्जा कर लिया। 1766 में दीनहट्टा में मॉरिसन की सेना के साथ युद्ध हुआ। विद्रोहियों के नेता संन्यासी रामानन्द गोसाईं थे। ज्यादा सेना और अच्छे अस्त्र-शस्त्रों के कारण अंग्रेजों को विजय मिली, लेकिन दो दिन बाद ही फिर आठ सौ विद्रोही चढ़ आये। अंग्रेजों की तोपों की मार के सामने फिर विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा। सम्मुख युद्ध में शत्रु को पराजित करना असंभव देख विद्रोही छोटे-छोटे दलों में बंट गये और छापामार युद्ध की नीति अपनायी। पहले उन्होंने अंग्रेज सेना को कमजोर किया और फिर अगस्त 1766 के अन्त में चार सौ विद्रोही मॉरिसन की मुख्य सेना पर टूट पड़े। घमासान युद्ध के बाद मॉरिसन की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई। 30 अक्टूबर 1766 को एक पत्र में इस युद्ध का वर्णन करते हुए कैप्टेन रेनैल ने लिखा :

“हमारी अश्वारोही रक्षक सेना के अधिक दूर जाते होते ही शत्रु नंगी तलवारों हाथ में लिए गुप्त स्थान से अकस्मात् निकल पड़े। मॉरिसन किसी तरह भागने में समर्थ हुए। मेरा भाई सेनापति रिचर्ड कुछ घायल होकर प्राण लेकर भागा। मेरा अर्मीनियाई साथी मारा गया और एडजुटेन्ट बुरी तरह घायल हुआ। तलवार के आघात से मेरे दोनों हाथ बेकाम हो गये हैं और मेरी हालत शोचनीय हो गयी है”।

1767 में संन्यासी विद्रोह के प्रधान केन्द्र पटना के आसपास के क्षेत्रों में भी विद्रोहियों की एक बड़ी सेना गठित हुई। इस सेना ने

## 7 • समरथ

पटना की ईस्ट इंडिया कंपनी की कोठी और अंग्रेजों के वफादार जमीन्दारों को लूट लिया। कंपनी की सरकार का कर वसूल करना मुश्किल हो गया। सारन जिले में पाँच हजार विद्रोहियों की संगठित सेना ने आक्रमण किया। कंपनी की दो सेनाओं के साथ इसका भयंकर युद्ध हुआ। पहले युद्ध में अंग्रेज पराजित हुए। विद्रोहियों ने इस जिले के किले पर अधिकार कर लिया, किन्तु कुछ दिनों के बाद तोपों के साथ कंपनी की एक बड़ी सेना आ पहुँची। पराजित होकर विद्रोहियों को किले से हट जाना पड़ा।

इसी बीच उत्तर बंगाल में तराई के जंगल में विद्रोही आ जमा हुए। तब से उत्तर बंगाल संन्यासी विद्रोह का प्रधान केन्द्र बन गया। विद्रोहियों ने जलपाईगुड़ी जिले में एक किला बनाया। किले के चारों ओर चहारदीवारी और उसके चारों ओर खाई बनायी गयी।

1766 में उत्तर बंगाल और नेपाल की सीमा के पास अंग्रेजों का प्रतिनिधि मार्टेल कई लोगों को लेकर लकड़ी कटवाने गया। विद्रोहियों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उनकी अदालत में मार्टेल पर मुकदमा चला और मृत्यु दंड दिया गया। यह समाचार पाकर कैप्टेन मैकेंजी सेना लेकर उनका दमन करने आया। विद्रोही जंगल में और अंदर चले गये। 1769 में फिर मैकेंजी सेना लेकर आया। विद्रोही फिर उत्तर की ओर हट गये। किन्तु सर्दी आरंभ होते ही वे अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े और रंगपुर तक आगे बढ़ आये। सेनापति लेफ्टिनेन्ट किथ बड़ी सेना के साथ मैकेंजी की मदद के लिए पहुँचा। विद्रोहियों ने फिर पीछे हटने और अंग्रेज सेना को जंगल में खींच ले जाने की नीति अपनायी। दिसम्बर 1769 में विद्रोही सारी ताकत के साथ नेपाल की सीमा के मोरंग अंचल में अंग्रेज सेना पर टूट पड़े। किथ मारा गया, पूरी अंग्रेज सेना नष्ट हो गयी।

1770-71 में बिहार के पूर्णिया जिले में विद्रोहियों ने नया आक्रमण आरंभ किया। अंग्रेजों ने मुकाबले के लिए बड़ी सेना इकट्ठा कर रखी थी। फलतः वे विद्रोहियों को हराने और 500 विद्रोहियों को कैद करने में सफल हुए। इन कैदियों से अंग्रेज अधिकारी विद्रोहियों के बारे में जो तथ्य संग्रह कर सके, वे मुर्शिदाबाद के रेवेन्यू बोर्ड के पास भेजे गये। इन तथ्यों से ज्ञात हुआ कि सभी कैदी स्थानीय किसान थे। वे सभी शान्तिप्रिय और सीधे-सादे नागरिक थे, उनका नेता भी स्थानीय किसान था। सभी विद्रोही उसे जानते थे और प्यार करते थे।

इसी समय दिनाजपुर में पाँच हजार विद्रोहियों की सेना के गठन और रंगपुर, दिनाजपुर तथा मैमनसिंह के विद्रोहियों के बीच घनिष्ठ संपर्क के प्रमाण पाये जाते हैं। फरवरी 1771 में ढाका जिले के विभिन्न स्थानों में अंग्रेजों की कोठियाँ और जमींदारों की कचहरियाँ लूटी गयीं।

उत्तर बंगाल में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए विद्रोही नेताओं ने दिनाजपुर, बगुड़ा और जलपाईगुड़ी जिलों में कई दुर्ग

बनाये। इनमें प्राचीन नगर महास्थान गढ़ और पौण्ड्रवर्द्धन के दुर्ग विशेष उल्लेखनीय हैं। फरवरी 1771 के अन्त में मजनु शाह के नेतृत्व में ढाई हजार विद्रोहियों की सेना ने लेफ्टिनेन्ट टेलर की बड़ी अंग्रेजी सेना का सामना किया। विद्रोहियों की हार के बाद मजनु शाह ने महास्थान गढ़ में शरण ली और बाद में उन्हें संगठित करने के लिए बिहार चले गये।

1771 की शरद ऋतु में उत्तर बंगाल में फिर विद्रोही इकट्ठा हुए। पटना अंचल से एक बड़ी सेना उत्तर बंगाल आयी। इन विद्रोहियों ने उत्तर बंगाल की कंपनी की कोठियों और अत्याचारी धनियों तथा जमीन्दारों को लूटा। विद्रोहियों के आक्रमण के बारे में एक दिलचस्प पत्र पढ़िए :

*“मेरा हरकारा खबर ले आया कि कल फ़क़ीरों का एक बड़ा दल सिलबेरी (बगुड़ा जिला) के एक गाँव में आकर इकट्ठा हुआ। उनके नेता मजनु शाह मलंग ने अपने अनुयायियों को कठोर आदेश दिया कि वे आम जनता पर कोई अत्याचार या बल प्रयोग न करें। आम जनता जो कुछ अपनी इच्छा से देती है उसे छोड़कर और कुछ न लें। लेकिन मुझे खबर मिली है कि उन्होंने दयाराम राय के अधिकार के नूरनगर गाँव की कचहरी से पाँच सौ रुपए और जनसिन परगने की कचहरी से सोलह सौ नब्बे रुपये लूट लिये हैं। अन्तिम कचहरी के सभी कर्मचारी विद्रोहियों के आगमन का समाचार सुनते ही सब रुपया-पैसा, माल-असबाब छोड़कर भाग गये।”*

यह पत्र नाटोर के सुपरवाइजर ने 25 जनवरी 1772 को रेवेन्यू कौंसिल के नाम लिखा। इसके बाद उसने एक पत्र भेजकर सूचित किया कि ग्रामवासियों ने खुद आगे बढ़कर विद्रोहियों के खाने-पीने का इंतजाम किया है। बहुत से किसान विद्रोहियों के दल में शामिल हो गये हैं। किसानों ने ब्रिटिश शासकों को कर देना बन्द कर दिया है। गाँववासी अंग्रेजों को देने वाला कर विद्रोहियों को सौंप रहे हैं। सुपरवाइजर का यह पत्र सूचित करता है कि विद्रोही ब्रिटिश शासकों और अत्याचारी जमीन्दारों को लूटते थे, लेकिन आम जनता के साथ अच्छा बर्ताव करते थे। अपने इसी व्यवहार के कारण वे बड़े जनप्रिय थे।

1773 में विद्रोहियों का प्रधान कार्यक्षेत्र रंगपुर था। इन विद्रोहियों का दमन करने के लिए अंग्रेज सेनापति टॉमस बड़ी भारी सेना लेकर आया। 30 दिसम्बर 1772 को प्रातःकाल रंगपुर शहर के नजदीक श्यामगंज के मैदान में उसने विद्रोहियों पर आक्रमण आरंभ किया। विद्रोहियों के चतुर नेताओं ने हारकर भागने का बहाना किया और टॉमस की सेना को पास के जंगल में खींच ले गये। विजय के



आनन्द में अंग्रेज सेना ने गोला, गोली आदि समाप्त कर दिये। इसके बाद ही विद्रोही घूमकर अंग्रेज सेना पर टूट पड़े और चारों तरफ से उसे घेर लिया। इस अंचल के सब गाँवों के किसान तीर-धनुष, भाला-बल्लम, लाठी-डंडा लेकर आ पहुँचे और विद्रोहियों के साथ मिलकर अंग्रेज सेना पर हमला करने लगे। सेनापति टॉमस ने अपनी सेना के देशी सिपाहियों को जवाबी हमला करने का हुक्म दिया, लेकिन इन सिपाहियों ने अपने देश के किसानों पर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया। थोड़ी देर में ही अंग्रेज सेना हार कर भाग खड़ी हुई। टॉमस मारा गया। इस घटना पर अफसोस करते हुए रंगपुर के सुपरवाइजर पालिंग ने रेवेन्यू कौंसिल के पास 31 दिसम्बर 1772 को लिखा :

*“किसानों ने हमारी सहायता तो की नहीं, बल्कि उन्होंने लाठी आदि लेकर संन्यासियों की तरफ से युद्ध किया। जो अंग्रेज सैनिक जंगल की लंबी झाड़ियों के अन्दर छिपे थे, किसानों ने उन्हें खोजकर बाहर निकाला और मौत के घाट उतारा। जो भी अंग्रेज सैनिक गाँव में घुसे, किसानों ने उनकी हत्या की और बन्दूकों पर कब्जा किया”।*

किसान किस तरह विद्रोहियों का साथ देते थे, यह पत्र इसका जीता जागता प्रमाण है।

1 मार्च 1773 को तीन हजार विद्रोहियों ने मैमनसिंह जिले में अंग्रेज सेनापति कैप्टन एडवर्ड्स की सेना नष्ट कर दी। खुद एडवर्ड्स मारा गया। सिर्फ बारह सैनिक बचकर भाग सके। इस युद्ध में एक देशी सूबेदार ने कई सिपाहियों को साथ लेकर विद्रोहियों की मदद की थी। बाद में ये अंग्रेजों के हाथ पड़ गये और तोप से उड़ा दिये गये।

विद्रोहियों के कार्यकलापों और उनके साथ किसानों के सहयोग को बढ़ता देख गवर्नर हेस्टिंग्स ने घोषणा की कि जिस गाँव के किसान विद्रोहियों के बारे में ब्रिटिश शासकों को खबर देने से इन्कार करेंगे और विद्रोहियों की मदद करेंगे, उन्हें गुलामों की तरह बेच दिया जायेगा। इस घोषणा के अनुसार कई हजार किसानों को गुलाम बना दिया गया। कितने ही किसानों को बीच गाँव में फांसी दी गयी और लाश को लटका कर रखा गया ताकि किसान डर जाएँ। विद्रोही होने या विद्रोही के साथ सम्पर्क रखने का सन्देह होते ही बिना मामला-मुकदमा फांसी पर लटका देने की घटनाएँ पायी जाती हैं। जिन्हें फांसी दी जाती, उनके परिवार के सब लोगों को हमेशा के लिए गुलाम बना दिया जाता।

1774-75 में मजनु शाह मलंग ने बिहार और बंगाल के विद्रोहियों को फिर से संगठित करने की कोशिश की। 15 नवम्बर 1776 को मजनु की सेना और कंपनी की सेना के बीच टक्कर उत्तर बंगाल में हुई। अंग्रेजी सेना चुपचाप विद्रोहियों के शिविर के पास पहुँच गयी थी। विद्रोही पहले पीछे हटे और अंग्रेजी सेना को जंगल की तरफ

खींच ले गये। फिर अचानक घूमकर अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े। कई अंग्रेजी सैनिक मारे गये और अंग्रेज सेनापति लेफ्टिनेन्ट रॉबर्टसन गोली की चोट से घायल हो गया। इस तरह अंग्रेजी सेना के हाथ से निकल जाने में मजनु शाह और उनके साथी कामयाब हुए।

मजनु शाह ने कई साल बिहार और बंगाल में घूम-घूमकर विद्रोहियों को संगठित करने का प्रयास किया। सेना के लिए कितने ही जमींदारों से कर भी वसूल किया। अंग्रेज शासकों ने उन्हें पकड़ने की बार-बार कोशिश की पर असफल रहे।

29 दिसम्बर 1786 को अंग्रेजों से युद्ध करते हुए उनका घेरा तोड़कर निकलने में मजनु शाह सख्त घायल हुए और एक आध दिन बाद ही संन्यासी विद्रोह के इस सर्वश्रेष्ठ नेता की मृत्यु हो गयी।

मलंगों की तज्जीज-ओ-तकफ्रीन बाकी मदारिया फ़क़ीरों से अलग होती हैं। मदारिया की दूसरी शाखाओं जैसे ख़ादिमान, आशिक़ान और तालिबान में मृत शरीर को दफ़नाया जाता है, जबकि मलंगों में उनकी जटा या भीक को काट कर उसे अलग दफ़नाया जाता है और शरीर को अलग दफ़न किया जाता है। उदाहरणार्थ : मजनु शाह मलंग की दो कब्रें हैं जो मकनपुर में स्थित हैं। एक में उनकी जटा दफ़न हैं और दूसरे में शरीर। कहा जाता है की मजनु शाह ने खुद कई मलंगों को इस तरीके से दफ़नाया था जो संन्यासी फ़क़ीर आंदोलन के दौरान शहीद हुए थे।

इसके बाद संन्यासी विद्रोह से प्रायः अलग हो गये, किन्तु फ़क़ीर मूसा शाह के, जो मजनु शाह के शिष्य और भाई थे, नेतृत्व में विद्रोह चलाते रहे। मजनु शाह के दूसरे मुरीद भी थे परन्तु कहा जाता है कि नेता बनने की चाह में इनमे से ही एक मुरीद ने मूसा शाह का कत्ल कर दिया।

जून 1787 से विद्रोहियों के विख्यात नेता भवानी पाठक और देवी चौधरानी का उल्लेख मिलता है। आख़िर में एक दिन भवानी पाठक अपनी छोटी टुकड़ी के साथ, अंग्रेजों की विशाल सेना के घेरे में पड़ गये। जल युद्ध में भवानी पाठक और उनके साथी मारे गये। देवी चौधरानी इसके बाद भी लड़ती रहीं पर आख़िर में उनका क्या हुआ, अज्ञात है।

18वीं शताब्दी के अन्त तक इस विद्रोह का उल्लेख मिलता है। बंगाल के उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने आनन्द मठ में संन्यासी विद्रोह का जो चित्रण किया है, वास्तविक रूप उससे भिन्न था। फिर भी आनन्द मठ बंगाल के मध्यवर्ग के उग्रवादियों का बाइबल और संन्यासी विद्रोह उनका आदर्श बना।

मजनु शाह मलंग के उल्लेखनीय योगदान और इनकी देशभक्ति को सलाम करते हुए बांग्लादेश में उनके नाम पर एक पुल का नाम रखा गया है।

साभार : [blog.sufinama.org](http://blog.sufinama.org)

## १० • समरथ

जुलाई-सितम्बर, 2022

# ज़िंदा लाशों को आज़ादी की क्या जरूरत?

पुरुषोत्तम अग्रवाल

//

**सामूहिक मूर्खता कभी भी प्राकृतिक आपदा नहीं होती! यह अधिनायकवादी राजनीति की एक ऐसी खासियत है जो सोचने वाली जमात को लाशों में तब्दील करने, उनकी तर्क शक्ति को कुंद करने, सवाल करने और प्रभावित करने के विवेक और उनकी आजादी को निशाना बनाती है।**

18वीं सदी के दार्शनिक इमैनुएल कांट ने 'ज्ञान के उदय' या जागरूकता को 'नाबालिगी' से बाहर आने के रूप में परिभाषित किया जिसे वह आजाद खयाली की राह की बाधा के रूप में देखते हैं। 1784 में लिखे अपने एक चर्चित लेख में कांट ने लातीनी मुहावरे 'सपेरे ओत' (जानने का दुस्साहस) को ज्ञान के दौर में मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया। 'आजादी' के विचार के असली मायने एक तर्कसंगत व्यक्तित्व का होना और अपने किए की नैतिक जिम्मेदारी स्वीकार करना है। कोई राजनीतिक व्यवस्था तभी तक वैध मानी जा सकती है जब तक वह 'नाबालिगी' से बचने की आजादी देती है, हालांकि इसमें कुछ 'तार्किक' निषेध और समझदारी भी शामिल हैं जो किसी भी नागरिक को दूसरे नागरिक की आजादी में जानबूझकर खलल डालने से रोकते हैं। राज्य के हित में नागरिकों की आजादी पर उचित या तार्किक प्रतिबंध कोई अहंकारी शासक और पागलपन की हद तक सरकार द्वारा भय की मनोवृत्ति का माहौल जबरन बनाने का पतित काम नहीं करेगा।

अब यह कौन तय करेगा कि आजादी महज जुमलेबाजी या कुछ चुनिंदा लोगों के विशेषाधिकार तक सिमट कर न रह जाए? यहां तक कि राजनीतिक ढांचे से परे, पूरे सामाजिक ताने-बाने को ही नागरिकों की आजादी सुनिश्चित करने को कम-से-कम तत्पर दिखना चाहिए और

इसके लिए समग्रता में प्रयास किए जाने की जरूरत है। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसी समझ के साथ न्याय, समानता और बंधुत्व के संदर्भ में 'आजादी' का तानाबाना बुना था। इन तीन स्तंभों में से कोई एक भी हिला, तो आजादी कमजोर और लड़खड़ाती हुई नजर आएगी।

न्याय, समानता, बंधुत्व और स्वतंत्रता के इस चौखंभे को किसी भी समझदार लोकतांत्रिक सरकार के लिए एक नैतिक दिशासूचक के तौर पर काम करना चाहिए। कोई भी चेतना संपन्न राज्य समाज में सहानुभूति और आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा देगा। यह न जनभावनाओं को भड़काएगा, न आहत करेगा और न ही भावनाओं को एक लोकतांत्रिक सामाजिक चेतना को उलझाने का अवसर देगा। यह लोगों को अपने धार्मिक विश्वास का पालन करने और प्रचारित करने की अनुमति देगा लेकिन धर्मों के बीच भेदभाव नहीं करेगा, आस्था के नाम पर हत्या कर दिए जाने की अनुमति नहीं देगा। एक चेतना संपन्न राज्य नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए सामाजिक आंदोलनों को सतत बढ़ावा देगा और नागरिकों को किसी भी प्रकार से 'आहत भावनाओं के खतरे' से बचाएगा।

किसी भी चेतना संपन्न राज्य के नागरिक कभी भी भय में नहीं जीते। वास्तव में, भय से मुक्ति ही हर तरह की आजादी का मूल है। पंडित नेहरू अपनी आत्मकथा में 12वीं शताब्दी

के महाकाव्य 'राजतरंगिणी' में कल्हण का वाक्यांश 'धर्म और अभय' का बड़े उत्साह से याद करते हैं। नेहरू लिखते हैं: '(यह) कानून और व्यवस्था के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है, कुछ ऐसा जो शासक और राज्य का कर्तव्य था और उसे यह सुनिश्चित करना था—धार्मिकता और भय से मुक्ति। कानून सिर्फ कानून नहीं, उससे बढ़कर कुछ था और व्यवस्था का मतलब लोगों का भय मुक्त होना था। भयमुक्त समाज बनाने के बजाय पहले से भयभीत जनता पर 'व्यवस्था' थोपने का विचार कहां तक और कितना जायज है।'

ऐसे में हमारी आजादी की 75वीं सालगिरह के मौके पर हमें यह सवाल पूछना ही होगा कि भारतवासी और इसके नागरिक के तौर पर हम आज कितना स्वतंत्र महसूस करते हैं? सात साल पहले, आपातकाल की 40वीं वर्षगांठ पर एक टेलीविजन चर्चा के बीच एंकर ने मुझे मौजूदा सरकार के दौरान 'अघोषित आपातकाल' की आशंका जताने वाला एक अलार्मिस्ट कह कर निशाने पर लिया था। लेकिन अब तक तो ऐसे लोगों को भी यह बात समझ में आने लगी है कि कानून का घोर दुरुपयोग, विपक्ष की आवाज को मनमाने तरीके से दबाने की कोशिश, बुद्धिजीवियों का तिरस्कार, 'चौकसी' की आड़ में खौफनाक हत्याएं, मुसलमानों को खासकर टारगेट किया जाना और लोगों के घरों-प्रतिष्ठानों पर बुलडोजर चलाकर परपीड़ा में अट्टहास—आखिर क्या है!

परिदृश्य का सबसे चिंताजनक पहलू लोकतांत्रिक संस्थाओं का ध्वंस और दैनिक लोकाचार के न्यूनतम प्रतिमानों का सिकुड़ते जाना ही नहीं, जनमानस का इसे मिल रहा खुला समर्थन है। बहुत ही सुचिंतित और संगठित तरीके से तथ्यों के साथ छेड़छाड़, एक काल्पनिक दुनिया रचते हुए जड़बुद्धि-मूर्खतापूर्ण हरकतों को बढ़ावा देते जाने का नतीजा ही है कि लोगों का दिमाग कुंद होता जा रहा है और समाज तेजी से अधःपतन की ओर जा रहा है।

क्या हमें ऐसी मनगढ़ंत और प्रचारपरक चीजों पर वास्तव में ध्यान देने की जरूरत है?

कोविड महामारी जैसे अभूतपूर्व संकट के दौर में भी हमारे सर्वोच्च नेता अपनी अभिनयप्रियता पर काबू नहीं कर पाते, नतीजतन लाखों भूखे-प्यासे लोग, मजदूर, मजबूर महज चार घंटों के नोटिस पर भूखे-प्यासे पैदल ही अपने गांव-घरों को जाने के लिए सड़कों पर धकेल दिए जाते हैं। इसकी कोई जवाबदेही नहीं लेता! नोटबंदी के नाम पर

भी चार ही घंटे के नोटिस में अर्थव्यवस्था पूरी तरह पटरी से उतार दी जाती है और पूरा देश बैंकों के सामने लाइन में खड़ा हो जाता है! इस पर भी कोई जवाबदेही नहीं लेता, कोई जमीनी चर्चा भी नहीं! गोमूत्र पार्टियां कोविड की मारक डोज के रूप में सामने आ जाती हैं, कोई गुस्सा या नाराजगी नहीं, कोई सवाल नहीं!

पादरी, धर्मशास्त्र के विद्वान, नाजी विरोधी और गांधी के प्रशंसक डिट्रिक बोनहोफर को अप्रैल, 1945 में फलोसेनबर्ग के यातना शिविर में मार डाला गया। उनके विचार हमें सामूहिक मूर्खताओं की निर्मितियों और उनके प्रसार के पीछे की शैतानी मनोदशाओं के बारे में सतर्क करते हैं। उन्होंने लिखा : 'मूर्ख व्यक्ति प्रायः जिद्दी होता है और हमें इस तथ्य से आंख नहीं मूंद लेनी चाहिए कि वह स्वतंत्र नहीं है। वह एक जादू के वशीभूत है, अंधा हो चुका है, उसका दुरुपयोग हो रहा है और वह किसी के दुर्व्यवहार का शिकार है। इस प्रकार एक 'नासमझ उपकरण' में तब्दील हो चुका मूर्ख व्यक्ति हर बुराई से लैस, कैसी भी बुरी हरकत करने को हमेशा तत्पर होगा और उसे इस बात का इल्म भी नहीं होगा कि इसमें कुछ गलत भी है। यहीं पर शैतानी दुरुपयोग का बड़ा खतरा मंडराता है क्योंकि यही है जो इंसानियत को हमेशा के लिए नष्ट कर सकता है।'

अधिनायकवादी राजनीति हमेशा तार्किकता और बौद्धिकता की बदनामी पर फलती-फूलती है (मुहावरा 'बौद्धिक आतंकवाद' याद करें)। यही उसका खाद-पानी है। इसी तरह आप लोगों को कट्टरपंथियों में तब्दील करके उन्हें आत्मघाती मिशन पर भेजते हैं। यही कारण है कि हर अधिनायकवादी बहस भावनाओं पर सबसे पहले कब्जा करती है, तार्किकता पर चोट करती है और यही वह कारण है जब व्यक्तिपरक 'अनुभवों' को वह वस्तुनिष्ठ साक्ष्य पर हावी कर देती है।

सामूहिक मूर्खता कभी भी प्राकृतिक आपदा नहीं होती! यह अधिनायकवादी राजनीति की एक ऐसी खासियत है जो सोचने वाली जमात को लाशों में तब्दील करने, उनकी तर्क शक्ति को कुंद करने, व्यावहारिक समझ की उनकी क्षमता, सवाल करने और प्रभावित करने के विवेक और उनकी आजादी को निशाना बनाती है। आखिर, अच्छाई और बुराई की लोगों की सहज समझ को कुंठित और कमजोर करके नहीं, तो फिर आप नफरत और हिंसा की राजनीति की फसल को कैसे लहलहा सकते हैं?

साभार : navjivanindia.com

# सिर उठाता राष्ट्रवाद और कमजोर होता लोकतंत्र

गणेश देवी

//

ऐतिहासिक पहेलियों की बात करके लोकतंत्र को ताकतवर नहीं बनाया जा सकता। जो राजनीति अपनी वैधता के लिए काल्पनिक गौरवशाली अतीत को आधार बनाती है, वह ऐतिहासिक बदलाव के साथ तालमेल नहीं बैठा पाती।

वैसे तो 19वीं सदी से पहले ही कुछ देशों में 'राष्ट्रवाद' और 'लोकतंत्र' को स्थानीय तौर पर परिभाषित किया जाने लगा था, लेकिन यूरोप में इन शब्दों ने फ्रांस की क्रांति के बाद ही एक स्पष्ट सैद्धांतिक आकार लेना शुरू किया। शुरू में 'राष्ट्र' से तात्पर्य लोगों से था। इटली और जर्मनी में राष्ट्रवाद के लिए हुए आंदोलनों के बाद 'राष्ट्र' का दायरा बढ़ा और इसमें मुख्यतः लोगों के अतीत और उनके भविष्य से संबंधित आख्यानों को शामिल किया गया। एक लंबे काल खंड में अतीत को स्मृति में बने रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। वह धीरे-धीरे मिथक का स्वरूप लेने लगता है और एक समय के बाद वह तर्कहीन रूप से संकुचित और लोगों की सोच के हिसाब से बदल जाता है। अतीत के विपरीत भविष्य का फैलाव अनंत काल तक होता है। स्वाभाविक रूप से इसके स्वरूप का खाका खींचना कल्पना के लिए चुनौतीपूर्ण होता है और इस तरह लोगों के दिलो दिमाग में यह उनकी सामूहिक किस्मत के लिए ऐसा आदर्श बन जाता है जो सिर्फ खयालों में रह सकता है, व्यवहार में नहीं।

20वीं शताब्दी के दौरान लोगों ने 'राष्ट्रत्व' को दृढ़ता के साथ अपनाने की जरूरत महसूस की। ज्यादातर नवजात राष्ट्रों ने अपने सपनों को पूरा करने के रास्ते के रूप में लोकतंत्र को स्वीकार कर लिया। जिन्होंने राष्ट्र के साथ-साथ लोकतंत्र होना चुना, उन्हें ये दोनों शब्द लगभग पर्यायवाची लगने लगे। इन दो शब्दों का एक हो जाना न सिर्फ शाब्दिक अर्थ के लिहाज से

गलत था बल्कि यह राजनीतिक नजरिये से भी सही नहीं था। जब भारत में आजादी का आंदोलन चल रहा था, तब एक 'राष्ट्र' बनने का विचार महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि अंग्रेजी शासन के खत्म होने के बाद छोटी-बड़ी तमाम रियासतों को एकीकृत करने का सवाल उठने वाला था। हालांकि जब औपनिवेशिक शासन के अंत का समय आया, तब कई दूरदर्शी नेताओं को राष्ट्रवाद के संभावित खतरों का अंदाजा हो गया था।

पूर्व में भारतीय राष्ट्र को 'भारत माता का मंदिर' कहने वाले श्री अरबिंदो ने अपने निधन से कुछ महीने पहले (1950 में) लिखा कि मानवता का भविष्य तभी सुरक्षित होगा जब नवगठित संयुक्त राष्ट्र को एक अंतरराष्ट्रीय सरकार बनाने की दिशा में बढ़ाया जाए। रवींद्र नाथ टैगोर जिनकी अमर कविता हमारा राष्ट्रगान बनी, ने मानवता पर जो अपने विचार व्यक्त किए, उसमें किसी तरह की भौगोलिक राष्ट्रीय सीमा नहीं थी। 1920 के दशक से ही महात्मा गांधी इस बात को लेकर एकदम स्पष्ट थे कि गुजरात विद्यापीठ आजादी के लिए लड़ने वाले युवाओं को तैयार करेगा और साबरमती आश्रम सत्य और अहिंसा के प्रति समर्पित लोगों को विकसित करने की जगह रहेगा।

भारत को आजादी के रास्ते पर आगे बढ़ाने वाले ये महान विचारक जानते थे कि अगर राष्ट्रवाद को ज्यादा तूल दिया गया तो एक सीमा के बाद यह स्वतंत्रता के विचार के लिए

नुकसानदायक हो सकता है। उन्होंने देखा था कि यूरोप में कैसे अति-राष्ट्रवाद के रास्ते पर चलने वाले इटली और जर्मनी में आखिरकार क्रूर फासीवाद ने जगह बना ली थी। दूसरे विश्व युद्ध के खत्म होने के बाद लोगों को उम्मीद थी कि राष्ट्रवाद और राष्ट्र निर्माण में अहम भूमिका निभाने वाली स्वतंत्रता की भावना के बीच का टकराव खत्म हो जाएगा। लेकिन हाल के समय में दुनिया ने राष्ट्रवाद का उदय और लोकतंत्र के पतन को देखा है।

कई स्थापित लोकतांत्रिक देशों में ऐसी बहुसंख्यवादी सरकारों का उदय हुआ है जो लोकतंत्र के इस बुनियादी सिद्धांत का पालन करने के प्रति उदासीन रही हैं कि जातीय, धार्मिक और भाषाई विभिन्नताओं के बावजूद सभी नागरिक समान हैं। बीसवीं सदी में दुनिया के बारे में जो कल्पना की गई थी, उसे देखते हुए राजनीतिक विज्ञानी लोकतंत्र के भविष्य को लेकर खासे चिंतित हैं।

पारंपरिक रूप से निरक्षरता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और कट्टरता को लोकतंत्र के लिए खतरा माना जाता रहा है लेकिन अब तो आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, जनता को मशीन से नियंत्रित करने, जासूसी के लिए स्पाईवेयर का इस्तेमाल और लोगों की निजता पर हमला ऐसे विषय हैं जो लोकतंत्र के लिए कहीं बड़े खतरे के तौर पर हमारे सामने हैं। यह नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था है जिसका एक रहस्यमय अतीत के साथ असहज संबंध होना तय है। सत्ता व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र के आगमन के साथ ही विज्ञान और आधुनिकता की बुनियाद बन जाती है तर्कसंगतता। यह संयोग स्मृति और लोकतंत्र के असहज संबंधों को और बढ़ाता है।

अतीत में कई शताब्दियों तक 'यूटोपिया' को मिथकीय भविष्य के रूप में देखा जाता था। लोकतंत्र के युग में भविष्य केवल एक मिथक नहीं रह जाता। यह शक्ति का स्रोत बनना शुरू हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे पूर्व-लोकतांत्रिक युगों में होता था। लोकतंत्र, आधुनिकता की मानसिक पारिस्थितिकी और अतीत के विचार के साथ असहज संबंधों के कारण यह आसानी से समझ में नहीं आता कि कृत्रिम स्मृति से कैसे निपटा जाए। मौजूदा समय में भारत समेत दुनिया के विभिन्न देशों की सरकारें अपने लोगों को अनुशासित, व्यवस्थित और नियंत्रित करने के लिए मशीनी स्मृति का उपयोग कर रही हैं। उस नजरिये से एक नियंत्रित लोकतंत्र में एक नागरिक तब तक नागरिक नहीं है जब तक वह डिजिटल इकाइयों के वर्चुअल

टाइम और स्पेस में मुक्त होकर तैरता-विचरता न हो।

इक्कीसवीं सदी में अपनी 'आंतरिक शक्ति' को मजबूत करने और अप्रासंगिक हो चुकी ऐतिहासिक पहेलियों की बात करके लोकतंत्र को ताकतवर नहीं बनाया जा सकता। जो राजनीति अपनी वैधता के लिए काल्पनिक गौरवशाली अतीत को आधार बनाती है, वह ऐतिहासिक बदलाव के साथ तालमेल नहीं बैठा पाती। इसी तरह, राजनीति जो पूरी तरह से तकनीक से संचालित होती है, उसमें भविष्य के बारे में एक खास नजरिया होता है और इससे लोकतंत्र का पतन ही तेज होता है। 21वीं सदी में लोकतंत्र समर्थक राजनीति को देवताओं और रोबोटों को आमने-सामने लाना होगा। भविष्य को एक मिथक के रूप में फिर से स्थापित करने के लिए इनका एक-दूसरे से सामना कराना होगा।

2047 में भारत कहां होगा और कैसा होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम मानव-मशीन की परस्पर उलझनों को कितनी कुशलता से सुलझाते हैं। नई जटिलताओं को देखते हुए हम अधिकारों, गरिमा और निजता को किस तरह रेखांकित करते हैं ताकि हमें एक ऐसा नया संविधान न बनाना पड़े जो इस वाक्य के साथ शुरू हो कि : 'हम, डिजिटल रूप से गिने जाने वाले और भारत के रोबोट, एतद् द्वारा इसे (संविधान को) अपनाते हैं, अधिनियमित करते हैं और खुद को देते हैं, ...।' आइए, प्रार्थना करें कि ग्रीक पौराणिक कथाओं का पंखों वाला गुस्सैल समुद्री घोड़ा-पेगासस, वास्तविक दुनिया में वास्तविक परिश्रम और बलिदानों से अर्जित हमारे लोकतंत्र को झुलसा न पाए।

तकनीक संचालित ताकत का यह दौर जिस भविष्य की मुनादी कर रहा है, उसमें आगे बढ़ने का एकमात्र तरीका नागरिकों के मामले में राष्ट्र के विचार का समर्पण करना है। विडंबना है कि उस ऐतिहासिक समय बिंदु पर राष्ट्र का यह विचार राजनीतिक रूप से खत्म हो गया होगा। ऐसी ताकतों के सामने दूसरा विकल्प यह है कि प्रति-कथा को स्थापित करते हुए राष्ट्र के विचार को ही खंडित करने की दिशा में आगे बढ़ें। दुनिया भर के लोगों का भविष्य जिस पर निर्भर हो सकता है, वह है 'राष्ट्र के रूप में लोगों' और 'लोगों के रूप में राष्ट्र' के विचार को बहाल करना। जो लोग अक्सर इस्तेमाल की जाने वाली अप्रासंगिक राजनीतिक जुमलेबाजी से बंधे नहीं रहना चाहते, उन्हें इन्हीं विरोधाभासी संभावनाओं के भीतर संघर्ष की नई रेखाएं खींचनी होंगी।

साभार : navjivanindia.com

# मुक्ति की अनथक आकांक्षा

अशोक वाजपेयी

धूमिल ने दशकों पहले 'दूसरे प्रजातंत्र' की बात की थी, हमें अब अपना पुराना, भले अपर्याप्त, लोकतंत्र चाहिए। वह हमें पूरी तरह से मुक्त नहीं करेगा पर उस ओर बढ़ने की ऊर्जा, अवसर और साहस तो देगा।

कोई भी मनुष्य, किसी भी समाज या समय में रहता हो, मुक्ति की आकांक्षा जरूर करता है। हमारी परंपरा में मोक्ष और निर्वाण उसी मुक्ति के रूप हैं, जिसे सामूहिक मुक्ति में, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, मुख्यतः महात्मा गांधी ने बदला। अब हम जब स्वतंत्रता-समता-न्याय की बात करते हैं तो वे सामूहिक रूप से सबको उपलब्ध हों यही आकांक्षा करते हैं।

फिर याद करें कि सार्त्र से जीवन भर असहमत कवि आकावियो पाज़ ने सार्त्र की उक्ति 'नरक दूसरे लोग हैं' को बदलते हुए उनकी मृत्यु के बाद उन्हें प्रणति देते हुए कहा 'मुक्ति दूसरे लोग हैं'।

आज हम जहां हैं, वहां हमें कैसी और किससे मुक्ति चाहिए इस पर कुछ विचार करना जरूरी है। हमें चाहिए मुक्ति उस राजनीति से, जो लोकतंत्र की प्रक्रियाओं का उपयोग कर लोकतंत्र की आत्मा को नष्ट कर रही है। उस राजनीति से, जो हमें स्वतंत्रता-समता-न्याय के संवैधानिक मूल्यों और लक्ष्यों से सुनियोजित ढंग से दूर ले जा रही है।

हमें उस मानसिकता से मुक्ति चाहिए, जो 'दूसरों' को नष्ट या अप्रासंगिक करना चाहती है ताकि हम दूसरों की मुक्ति में ही अपनी मुक्ति देख-पहचान सकें। हमें उस छद्म धार्मिकता से मुक्ति चाहिए, जो हमें 'पीर पराई' जानने से रोकती है।

हमें मुक्ति चाहिए उस लगातार फैलाई घृणा से, जो हमारे अनेक नागरिकों को दोयम दर्जे का नागरिक बनने पर मजबूर कर रही है। हमें मुक्ति चाहिए उस सामाजिक-आर्थिक कल्पना से, जिसमें गरीब और वंचित गायब हैं या लगातार नज़रअंदाज़ किए जा रहे हैं। हमें मुक्ति चाहिए उस आर्थिकी से, जिसके चलते गरीब गरीबतर और अमीर और अमीर हो रहे हैं।

हमें मुक्ति चाहिए उन झूठों से, जो मीडिया और नई टेक्नोलॉजी और बाज़ार मिलकर बहुत तेज़ी से फैला रहे हैं और जिनके कारण हम सच और सचाई से लगातार दूर होते जा रहे हैं। हमें मुक्ति चाहिए लोकतंत्र में उस पालतू स्वामिभक्त सत्ता-परस्त मीडिया से, जो हमें असली मुद्दों से दूर रखकर महत्व हीन तुच्छ मुद्दों में उलझा रहा है और जो निज़ाम का भोंपू बन गया है।

हमें मुक्ति चाहिए अपनी भाषा के बढ़ते प्रदूषण और विकारों से जो उसे झगड़े, गाली-गलौज़, नफ़रत और असहिष्णुता का माध्यम बना रहे हैं।

हमें मुक्ति चाहिए उन विज्ञापनों से, जो राजनेताओं की तस्वीरें छाप-छापकर भयानक ऊब पैदा कर रहे हैं। हमें चाहिए मुक्ति उस विस्मृति से, जो मनमाने ढंग से, बिना तर्कसंगत साक्ष्य के, नया इतिहास रचने और मनवाने पर आमामदा है और जो हमें 'जो हुआ' उसे भूलने और 'जो नहीं हुआ' उसे याद रखने के लिए कह रही है।

हमें मुक्ति चाहिए उन धर्मों की जकड़बंदी से, जो घृणा-हिंसा-हत्या-असत्य का सहारा ले रहे हैं, अपने मूल सत्व और अध्यात्म से विश्वासघात करते हुए। हमें मुक्ति चाहिए आंकड़े दबाने या उन्हें विनियोजित करने के सरकारी खेल से।

हमें मुक्ति चाहिए आपस में बढ़ते परस्पर अविश्वास और संदेह की ज़हनियत से। सांस्कृतिक रूप से निरक्षर राजनेताओं के सांस्कृतिक संस्थाओं पर नियंत्रण और नियमन से। धूमिल ने दशकों पहले 'दूसरे प्रजातंत्र' की बात की थी, हमें अब अपना पुराना, भले अपर्याप्त, लोकतंत्र चाहिए। वह हमें पूरी तरह से मुक्त नहीं करेगा पर उस ओर बढ़ने की ऊर्जा, अवसर और साहस तो देगा।

**हम क्या ?**

जिस तरह की लाचारगी परिदृश्य में छाई और व्यापक हुई दिखती है उससे यह नतीजा निकालना अनुपयुक्त नहीं है कि हम ज्यादातर दुनिया या माहौल या मानसिकता बदलने की जिम्मेदारी दूसरों पर डालकर संतुष्ट हो गए लगते हैं।

कुछ भी अकेले दूसरों से नहीं बदल सकता और बदलाव में अगर हमारी हिस्सेदारी नहीं होगी तो वह कभी आएगा ही नहीं।

उचित ही यह सवाल उठता है कि हम किस तरह का बदलाव चाहते हैं। इस बारे में विचारों और दृष्टियों की बहुलता है। इसी का लाभ वे शक्तियां उठाती हैं, जिनके पास बदलाव की एकतान दृष्टि है, भले ही वह कितनी भी लोकतंत्र-विरोधी क्यों न हो।

समकालीन राजनीति में यह बिल्कुल साफ़ नज़र आ रहा है। चूँकि लक्ष्य की एकता नहीं है और बदलाव के स्वरूप पर सहमति नहीं है, विकल्प की संभावना भी घट गई लगती है। उससे लाचारगी के अलावा एक तरह की आरामदेह निष्क्रियता उभरती है और अपना औचित्य भी पा लेती है।

एक और बात है वह यह कि हमसे से हरेक यह सोच सकता है कि 'मेरे अकेले से क्या हो सकता है?' और ऐसा सोचना लगभग स्वाभाविक है। पर यह पूरी तरह से नैतिक और सर्जनात्मक नहीं है। अकेले से परिवर्तन नहीं होता पर अनेक अकेलों से परिवर्तन संभव है। इसका अर्थ यह है कि हम परिवर्तन लाने की जिम्मेदारी दूसरों पर डालने से बाज़ आएं और खुद पहल करें।

उसके साथ ही कोशिश करें कि समानधर्मा लोग भी साथ जुड़ें। यह वस्तुनिष्ठ आकलन नहीं होगा कि इस समय में परिवर्तन चाहने वाले लोगों की कमी है। ऐसे लोगों की संख्या तो बहुत है और कुछ बुनियादी चीज़ों पर उनकी एकमति संभव है। अगर हम स्वतंत्रता-समता-न्याय के पुनर्वास को एक प्रेरक और न्यूनतम सहमति संभव करने वाली मूल्य-त्रयी मानें तो बहुत लोग साथ आ सकते हैं।

सीधी कार्रवाई एक लुभावना कर्म तो हैं पर पर्याप्त कर्म नहीं है। जो सीधी कार्रवाई कर सकने की सामर्थ्य और इच्छा जुटा सकते हैं, वे ज़रूर वैसी कार्रवाई करें। पर साहित्य और कलाओं और संस्कृति के अन्य क्षेत्रों, शिक्षा आदि में सक्रिय लोग अपने सृजन, विचार और कर्म में इन मूल्यों का प्रतिपादन, उनका विवेचन, उनकी आवश्यकता और प्रासंगिकता पर जोर दें और उनका एक प्रभावशाली मानवीय-सामाजिक वृत्त बनाएं।

साहित्य-कला कर्म नागरिक कर्म है और उसमें नागरिकता को साहसी, निर्भीक और मुखर होना चाहिए। लिखकर, बोलकर, रचकर हम कुछ आगे बढ़ सकते हैं। हम कह सकते हैं कि जब लोकतंत्र ध्वस्त हो रहा था, स्वतंत्रता-समता-न्याय के मूल्य अवमूल्यत हो रहे थे, जब घृणा और

झूठ तेजी से फैलाए जा रहे थे तब हमने समुदाय और व्यक्ति दोनों ही रूपों में इन मूल्यों का पुनर्वास करने, सच और सचाई का साथ देने की कोशिश की।

इतिहास गवाह है कि ऐसी कोशिशें निरर्थक नहीं जातीं। एक नई हिस्सेदार सजग सृजनशील नागरिक निर्भीकता और सक्रियता की जरूरत है। लोकतंत्र को हमेशा रही है और संकटग्रस्त लोकतंत्र को तो और भी।

### संवाद की कठिनाई

लोकतंत्र में संवाद का अर्थ ही कई दृष्टियों और मूल्यों के बीच संवाद होता है। आज जब हम हिंदुत्व नामक एक राजनीतिक विचारधारा को सत्तारूढ़ और वर्चस्वशाली और लोकप्रिय होते देखते हैं तो उसके विचारधारियों से संवाद करने की लोकतांत्रिक अपेक्षा की क्या स्थिति है?

ज्यादातर संवादों में उनकी जगह नहीं बनती। इसका एक कारण तो शायद यह है कि इस विचारधारा से अलग विचार-दृष्टियों की पर्याप्त बहुलता है और कई विरोधी दृष्टियों के बीच संवाद होता रहता है और पर्याप्त लोकतांत्रिक लगता है। दूसरा कारण यह है कि इस विचारधारा ने स्वयं दूसरों से संवाद को ज़रूरी या प्रासंगिक नहीं माना है।

उसका जो राजनीतिक रूप विन्यस्त हुआ है उसमें सारा विपक्ष यानी दूसरी दृष्टियां राष्ट्र-विरोधी करार दी गई हैं और वैचारिक असहमति को अपराध लगातार मानकर यथासंभव दंडित किया जा रहा है। इसका एक अर्थ यह भी है कि यह विचारधारा संवाद में विश्वास नहीं करती जो कि, एक तरह से, लोकतंत्र में ही विश्वास न करने के बराबर है। उसे अगर संवाद से बाहर रखा जा रहा है तो यह उसके ही विश्वासों और आचरण के कारण। रंगे हाथों आप पकड़े तो जा सकते हैं पर संवाद नहीं कर सकते।

एक तीसरा कारण शायद यह है कि हिंदुत्व की मूल प्रेरणा नकारात्मक है—वह धर्म का दावा करने के बावजूद अपने मूल सत्व में हिंदू धर्म के अध्यात्म, चिंतन-परंपरा, संस्थापक ग्रंथों का निषेध करता है, अपनी दृष्टि और आचरण दोनों में। उसकी हिंदू राष्ट्र की कल्पना भारत के स्वतंत्रता-संग्राम और उसके व्यापक संघर्ष का अस्वीकार है जिसके फलस्वरूप हम एक लोकतांत्रिक गणतंत्र बने। वह दूसरे धर्मों से घृणा और उनके स्वीकार को बढ़ावा देता है जो हमारे संवैधानिक लक्ष्यों का अस्वीकार है।

हमारे लोकतंत्र की यह बड़ी विडंबना है कि सत्ताधारी विचारधारा ने स्वयं अपने से कोई सार्थक बौद्धिक-सर्जनात्मक खुला संवाद असंभव कर दिया है।

# आज़ाद भारत के 69 सालों में आदिवासी समुदाय को क्या हासिल हुआ?

दयामनी बारला

आज़ादी के 75 साल—देश की अज़ादी के 75 साल बाद भी आदिवासी समुदाय अपने जल, जंगल, ज़मीन, भाषा-संस्कृति, पहचान पर हो रहे अतिक्रमणों के खिलाफ लगातार संघर्षरत है।

इतिहास गवाह है कि झारखंड में जल, जंगल, ज़मीन को आबाद करने का आदिवासी-मूलवासी किसान समुदाय का अपना गौरवशाली इतिहास है। आदिवासी समुदाय ने खतरनाक जंगली जानवरों से लड़कर जंगल-झाड़ को साफ किया, गांव बसाया, ज़मीन आबाद किया है। आदिवासी-मूलवासी किसान समुदाय जंगल, जमीन, नदी, पहाड़ों की गोद में ही अपने भाषा-सांस्कृतिक पहचान के साथ विकसित होता है।

प्राकृतिक-पर्यावरणीय जीवन मूल्य के साथ आदिवासी-मूलवासी समुदाय के ताने-बाने को संरक्षित और विकसित करने के लिए ही छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम 1908, संचाल परगना काश्तकारी अधिनियम 1949 बनाया गया है। साथ ही भारतीय संविधान में 5 वीं अनुसूची एवं पेसा कानून 1996 में आदिवासी समुदाय के जल, जंगल, पर इनके खूंटकटी अधिकारों जो 1932 के खतियान, खतियान पार्ट टू, विलेज नोट सहित अन्य परंपरागत अधिकारों का प्रावधान किया गया है।

सर्वविदित है कि आदिवासी समुदाय के जंगल-जमीन, सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक आधार को संरक्षित एवं विकसित करने के लिए भारतीय संविधान में विशेष कानूनी प्रावधान किए गए हैं। स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि गांव के सीमा के भीतर एवं बाहर जो प्राकृतिक संसाधन हैं जैसे, गिट्टी, मिट्टी, बालू, झाड़-जंगल, जमीन, नदी-झरना, सभी गांव की सामुदायिक संपत्ति हैं। इस पर क्षेत्र के ग्रामीणों का सामुदायिक अधिकार है।

इन सभी सामुदायिक अधिकार को सीएनटी एक्ट, एसपीटी एक्ट, पेसा कानून, कोल्हान क्षेत्र के लिए विलकिंसन रूल, मुंडारी खूंटकटी अधिकार में कानूनी मान्यता मिली हुई है।

ये सभी अधिकार आदिवासी समुदाय के वीर शहीदों

तिलका मांझी, सिद्धू, कान्हू, फूल-झानों, तेलंगा खडिया, सिंदराय मानकी, विंदराय मानकी, बीर बुद्धू भगत, गया मुंडा, कानू मुंडा, बिरसा मुंडा, मानकी मुंडा और जतरा टाना भगत सहित हजारों वीर नायकों के अगुवाई में लंबे संघर्ष और शहादत के बाद मिले। अंग्रेजों के गुलामी से देश की स्वतंत्रता के लिए इन आदिवासी ने अहम भूमिका निभाई, जो स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में दर्ज है।

देश की आज़ादी के बाद भी आदिवासी समुदाय अपने जल, जंगल, ज़मीन, भाषा-संस्कृति, पहचान पर हो रहे अतिक्रमणों के खिलाफ लगातार संघर्षरत है। जंगल, ज़मीन की रक्षा के लिए आदिवासी-मूलवासी समुदाय ने जाति-धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर जनआंदोलनों ने जीत का परचम लहराया है।

पलामू-गुमला क्षेत्र में 256 गांवों को विस्थापित होने से रोकने के लिए 45 वर्षों से संघर्षरत केंद्रीय जनसंघर्ष समिति-पलामू-गुमला, काईल नदी और कारो नदी पर बांध बनाकर 245 गांवों को उजाड़ने वाली हाइड्रिल प्रोजेक्ट के विरोध में 40 वर्षों से संघर्षरत कोईलकारों जनसंगठन भी जीत हासिल की है।

15 नवंबर 2000 को झारखंड अलग राज्य बना। राज्य बनने के साथ ही तत्कालीन भाजपा की सरकार ने बड़े-बड़े निवेशकों को राज्य में आमंत्रित करना शुरू किया। चार साल में ही 150 सौ से अधिक कंपनियों के साथ सरकार ने एमओयू किया, जिसके विरोध में आदिवासी-मूलवासी समुदाय संगठित शक्ति के साथ उठ खड़ा हुआ।

खूंटी-गुमला जिले में नामी स्टील कंपनी आर्सेलर मित्तल, करीब 40 गांवों को हटाकर स्टील प्लांट लगाना चाहती थी, पर क्षेत्र के आदिवासी, मूलवासी किसानों ने नारा दिया कि हम एक इंच जमीन नहीं देंगे। पूर्वी सिंहभूम में भूषण स्टील और जिंदल स्टील कंपनी के विरोध, दुमका में काठीकुड इलाके में कोयला कंपनी द्वारा जमीन अधिग्रहण के खिलाफ संघर्ष ने जीत हासिल की।



## क्या खोया, क्या पाया

आजादी के 75वें वर्ष में आदिवासी समुदाय ने क्या खोया, क्या पाया इस पर भी बात होनी चाहिए। आजादी के बाद विकास के नाम पर 22 लाख एकड़ से ज्यादा जंगल-जमीन विभिन्न योजनाओं के लिए अधिग्रहण कर लिया गया है। शहरीकरण के कारण हर साल लाखों एकड़ जमीन आदिवासी समुदाय के हाथ से निकल रही है।

राज्य के जमीन मालिक अब लाखों की संख्या में दिहाड़ी मजदूर बनते जा रहे हैं। 2 करोड़ से अधिक आदिवासी, मूलवासी, दलित विस्थापित हो चुके हैं, जो रोजी-रोटी के लिए दर-दर भटक रहे हैं। अपने ही राज्य में आदिवासी समुदाय अल्पसंख्यक होकर 26.2 प्रतिशत हो गए। आने वाली जनगणना तक यह और नीचे गिर जाएगा।

शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में आदिवासी इलाकों को नजरअंदाज किया जाता रहा है। इनके शिक्षा, स्वास्थ्य के साथ समग्र विकास के लिए ट्राइबल सब-प्लान के लिए आई राशि को दूसरे मर्दानों में डायवर्ट कर दिया जाता रहा है। इस धनराशि से जेल, रोड, एयरपोर्ट बनाए गए। इस तरह विकास की बलिबेदी पर भेंट चढ़ती जा रही है आदिवासी आबादी।

झारखंड सहित पूरे देश में रह रहे आदिवासियों ने जैन धर्मावलंबियों की संख्या को आधार बनाते हुए सरना धर्म कोड की मांग तेज कर दी है। 2011 की जनगणना के अनुसार, देश में जैन धर्मावलंबियों की आबादी 44, 51, 753 आंकी गई है। आदिवासी समाज का तर्क है कि जब इनका अलग से धर्म कोड हो सकता है तो पूरे देश में रह रहे 10,42,81,034 प्रकृति पूजक आदिवासियों को अलग धर्म कोड क्यों नहीं हो सकता।

झारखंड बनने के बाद आदिवासियों की संख्या में कमी दर्ज की गई है। केवल झारखंड की बात की जाए, तो यहां 30 लाख आदिवासियों की गणना किस धर्म में हुई, वे कहाँ गए, इसका किसी को पता नहीं। झारखंड के सभी राजनीतिक दल सरना धर्म कोड के पक्षधर हैं, लेकिन 17 वर्षों में अब तक किसी ने भी सरना धर्म कोड लागू करने की पहल नहीं की है।

सरना धर्म कोड मिलने से आदिवासी समुदाय को पहचान मिलेगी, साथ ही समुदाय को धर्म के नाम पर जो सांप्रदायिकता का खेल चल रहा है रुकेगा।

2014 के बाद पूरे देश की जनाधिकारों से संबंधित संवैधानिक नीतियों में बदलाव ने आदिवासी, मूलवासी, दलित और मेहनत, मजदूरी करने वाले समुदाय के अधिकारों पर हमला कर दिया है। अब ग्लोबल नीति, ग्लोबल पूंजी, ग्लोबल बाजार

ने समुदाय के परंपरागत अधिकारों को समाप्त कर इसके स्थान में कॉरपोरेट हित को स्थापित कर दिया है।

देश की सरकारें अब कॉरपोरेट हित को प्राथमिकता दे रही हैं। ऐसे परिस्थिति में भी आदिवासी मूलवासी समुदाय संघर्षरत हैं। सर्वविदित हैं आज देश में जन राजनीति का स्थान सिर्फ जाति और धर्म ने ले लिया है। इसका गहरा असर समुदाय पर रहा है।

आज जनसरोकार, संवैधानिक अधिकार, मानवाधिकार, जंगल, जमीन का अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य का अधिकार की आवाज उठाने वाले कल्याणकारी सरकार के नजर में देशद्रोही माने जा रहे हैं, जेलों में बंद किए जा रहे हैं। आज एक नहीं हजारों चुनौतियां सामने हैं।

पांचवी अनुसूची, पेसा कानून, फॉरेस्ट राइट एक्ट, सीएनटी एक्ट, एसपीटी एक्ट जैसे सभी कानून अब कागजों में तो हैं, लेकिन इसे प्रभावहीन कर दिया जा रहा है। अनुसूची क्षेत्र को अति पिछड़ा क्षेत्र घोषित कर दिया गया है। लैंड रिकॉर्ड डिजिटलाइजेशन से आदिवासी, किसानों, दलितों के जमीन धड़ले से दूसरों के कब्जे में जा रही है। रातों-रात जमीन रिकॉर्ड पर असली जमीन मालिक का नाम बदलकर दूसरे का नाम दर्ज हो रहा है।

वर्तमान में केंद्र सरकार द्वारा लाई जा रही स्वामित्व योजना के तहत संपत्ति बनाने के नाम पर पांचवी अनुसूची क्षेत्र, छठवीं अनुसूची क्षेत्र, सीएनटी, एसपीटी एक्ट, मुंडारी खुटकटी क्षेत्र, विलकिंसन रूल में प्रावधान समुदाय की संपत्ति भी सामुदायिक जमीन, जंगल, जल स्रोतों को सरकार गांव के अधिकार से छीनकर अपने कब्जे में कर रही है।

आने वाले समय में परंपरागत आदिवासी गांव पूरी तरह से गायब हो जाएंगे। उनकी पारंपरिक व्यवस्था और अधिकार पूरी तरह समाप्त हो जाएगा। धर्म रक्षा के नाम माँब लिचिंग की घटना को खुलेआम अंजाम दिया जा रहा है। धर्म परिवर्तन रोकने के नाम पर समुदाय में धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया जा रहा है।

दूसरी तरफ, समुदाय को जाति और धर्म में बांटा जा रहा है। जन आंदोलनों, देश के संघीय ढांचों, लोक संस्थाओं को कुचल दिया जा रहा है। ऐसे हालात में एक ही रास्ता है कि राज्य और देश के सभी पीड़ित वर्गों को एक मंच पर आकर सामुदायिक संगठित शक्ति को मजबूत करने की जरूरत है।

(दयामनी बारला आदिवासी, मूलनिवासी अस्तित्व रक्षा मंच की संस्थापक हैं)

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)

# ढाका की मलमल, जो दो सौ साल तक धरती का सबसे कीमती कपड़ा रहा

ज़रिया गोरवेट

ढाका की मलमल 200 साल तक इस धरती का सबसे कीमती कपड़ा बना रहा और फिर सिरे से गायब हो गया। आखिर ऐसा कैसे हुआ ?

ढाका की मलमल का सफर लंबा रहा है. एक दौर में यह दुनिया का सबसे बेहतरीन कपड़ा माना जाता था और सबसे कीमती भी। लेकिन वक्त के साथ यह सिमटता चला गया। आजकल इस कपड़े की शान फिर से लौटाने की कवायद चल रही है।

ढाका की मलमल सोलह चरणों से गुजरने के बाद तैयार होती थी। वह उस नायाब कपास से बनाया जाता था, जो बांग्लादेश (तत्कालीन भारतीय बंगाल) की मेघना नदी के किनारे पैदा किया जाता था।

हजारों साल से यह कपड़ा पूरी दुनिया में पसंद किया जाता रहा था। प्राचीन ग्रीस में देवियों की मूर्तियों को मलमल के कपड़े पहनाए जाते थे। कई देशों की साम्राजियों के कपड़े



मलमल से तैयार होते थे।

भारतीय उप महाद्वीप में राज करने वाले मुगल बादशाहों और अमीर-उमरावों के वस्त्र भी इसी कपड़े से तैयार होते थे।

### ढाका की मलमल की मुरीद थी दुनिया

मलमल का ये कपड़ा कई किस्मों का होता था। राजदरबार के कवियों ने इससे प्रभावित होकर इसका नाम 'बफ्त हवा' यानी बुनी हुई हवा रखा। कहा जाता है कि आला दर्जे का यह कपड़ा हवा जितना हल्का होता था।

यह इतना महीन होता था कि आप 300 फीट लंबे कपड़े के टुकड़े को अंगूठी से निकाल ले सकते थे। एक यात्री ने लिखा था कि आप 60 फीट लंबे कपड़े को तह करके सूंघनी की छोटी डिब्बिया में रख सकते थे।

आमतौर पर मलमल उन दिनों साड़ी या जामा (कुरता) बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था लेकिन ब्रिटेन में यह संभ्रांत लोगों का कपड़ा बन गया। यह इतना पारदर्शी हुआ करता था कि कई बार इसे पहनने वाले उपहास के भी पात्र बने।

हालांकि ढाका की मलमल की लोकप्रियता कम नहीं हुई। जो लोग इसे खरीदने की क्षमता रखते थे, इसे पहनते थे। यह उस दौर का सबसे महंगा कपड़ा था। साल 1851 के आसपास एक गज मलमल की कीमत 50 से 400 पाउंड के बीच होती थी।

आज के हिसाब से यह 7 हजार से लेकर 56 हजार पाउंड का बैठता है। इसके संभ्रांत कद्रदानों की कमी नहीं थी। इनमें फ्रांस की क्रीन मैरी एंटोनेट से लेकर साम्राज्ञी बोनापार्ट और जेन ऑस्टिन तक शामिल थीं। लेकिन जब तक यह कपड़ा नव जाग्रत यूरोप पहुंचा तब तक यह गायब होना शुरू हो गया।

### 16 चरणों से होकर गुजरती थी मलमल तैयार होने की प्रक्रिया

20वीं सदी की शुरुआत तक ढाका की मलमल दुनिया के हर कोने से गायब हो चुकी थी। जो कुछ थोड़ा बहुत कपड़ा बच गया वह लोगों के प्राइवेट कलेक्शन और संग्रहालयों में रह गया था।

इसकी महीन कारगरी भुला दी गई और गोसिपियम आर्बरियम (वानस्पतिक नाम) या 'फुटी करपास' के स्थानीय नाम के कपास से बना सूत भी अचानक विलुप्त हो गया। यही एक मात्र कपास था, जिससे मलमल का यह कपड़ा तैयार होता था। आखिर यह कैसे हुआ?

क्या अब इस कपास को दोबारा पैदा किया जा सकता है? ढाका के मलमल के लिए इस्तेमाल होने वाले कपास के पौधों की खेती मेघना नदी (बांग्लादेश) के किनारे होती थी। तैयार पौधे साल में दो बार डेफोडिल जैसे पीले फूल देते थे। इससे फिर बिल्कुल सफेद हल्का कपास निकलता था। यह कोई साधारण धागा नहीं था।

दक्षिण अमेरिका में लगभग इसी से मिलती हुई प्रजाति गोसेपियम हिरसटम (इसी से आज दुनिया का 90 फीसदी सूती कपड़ा तैयार होता है) के लंबे महीने रेशे की तुलना में फुटी करपास से तैयार धागा थोड़ा गांठदार और कमजोर होता था। यह इस धागे की खामी लग सकती है लेकिन सवाल यह है कि आप इससे क्या बनाने जा रहे हैं? लंबाई में छोटा यह धागा औद्योगिक मशीनों से तैयार होने वाले सस्ते कपड़े के लायक नहीं था। मशीन में ये धागे टूट जाते थे।

दरअसल, स्थानीय लोगों ने हजारों सालों से विकसित सरल तकनीकों के जरिये इसे मुश्किल धागे को साध लिया था। ढाका की मलमल 16 चरणों से गुजर कर तैयार होती थी। यह प्रक्रिया इतनी खास होती थी हर चरण ढाका के चारों ओर बसा कोई गांव ही पूरा करता था।

यह पूरी तरह सामुदायिक काम था, जिसमें युवा और बुजुर्ग, महिलाएं, पुरुष सब शामिल होते थे। पहले कपास के छोटे गोले बोआल मछली के दांत के कंधों से साफ किए जाते थे। इसके बाद सूत की कताई होती थी।

धागे तैयार करने के लिए काफी नमी की जरूरत पड़ती था ताकि ये खिंच सके। इसलिए यह काम नारों पर किया जाता था। यह काम बिल्कुल सुबह या ढलती दोपहरी में होती थी, जिस वक्त सबसे ज्यादा नमी होती है। बुजुर्ग सूत नहीं कातते थे क्योंकि अपनी कमजोर आंखों की वजह से वे महीन धागे को ठीक से देख नहीं पाते थे।

साल 2012 में मलमल पर किताब लिखने वाली लेखिका और डिजाइन इतिहासकार सोनिया आशमोर कहती हैं कि सूती धागे में बीच-बीच में महीन गांठ होती थी, जो पूरे धागे को जोड़े रखती थी। इससे धागे की सतह पर एक रुखापन होता था, जो काफी अच्छा अहसास देता है।

### एशिया का चमत्कार था यह मलमल

ढाका की मलमल इतनी शानदार थी कि इस इलाके में आने वाले लोगों को इस बात पर विश्वास ही नहीं होता था कि यह इंसानी हाथों से बना हुआ है। कुछ लोग तो यह मानते थे कि इसे जलपरियां, परियां या भूत बनाते हैं।

बांग्लादेश नेशनलिस्ट क्राफ्ट कार्सिल की प्रेसिडेंट रूबी गजनवी का कहना है कि मलमल इतना हल्की और मुलायम होती है कि इसका जवाब ही नहीं। आज यह कपड़ा कहीं नहीं दिखता।

साल 2013 में यूनेस्को ने जामदानी बुनाई को एक सांस्कृतिक धरोहर के तौर पर संरक्षित किया था।

एक फोटो एजेंसी चलाने वाले 'रीसरेक्ट द फैब्रिक' प्रोजेक्ट के लीडर सैफुल इस्लाम कहते हैं, 'आजकल जो मलमल

आ रही है उसका श्रेड काउंट 40 से 80 होता है। जबकि ढाका की मलमल का श्रेड काउंट 800 से 1200 के बीच होता है। यह इसकी गुणवत्ता बताने लिए काफी है।’

यह नायाब मलमल अब से एक सदी पहले गायब हो चुका है।

### मलमल उद्योग कैसे हुआ बर्बाद ?

आशमोर कहती हैं मुगलकाल मलमल के लिए सबसे अच्छा समय था। मुगल बादशाहों और उनकी रानियों ने मलमल को खूब संरक्षण दिया। उन दिनों फारस (अब ईरान) इराक, तुर्की और मध्य पूर्व के देशों तक मलमल का व्यापार होता था।

ढाका की मलमल इतना बारीक होती थी कि इसकी कई तहों के बावजूद शरीर के अंग इससे दिखते थे। कहा जाता है एक बार औरंगजेब ने मलमल पहन कर दरबार में आने पर अपनी बेटी को डांटा था। जबकि उसने सात तह किए हुए मलमल के कपड़े पहने थे।

जिन दिनों लंदन में लोग मलमल के कपड़े पहन कर गर्व महसूस कर रहे थे ठीक उसी वक्त इसके कारीगर कर्ज में डूब कर आर्थिक तौर पर बरबाद हो रहे थे।

‘गुड्स फ्रॉम द ईस्ट 1600-1800’ नाम की एक किताब में कहा गया है कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने 18वीं सदी के आखिर में मलमल बनाने की नाजुक प्रक्रिया में टांग अड़ाना शुरू किया।

सबसे पहले कंपनी ने मलमल के स्थानीय खरीदारों को हटा कर इसे खुद खरीदना शुरू कर दिया। आशमोर कहती हैं कि उन्हें इसके प्रोडक्शन पर शिकंजा कस लिया और फिर पूरे कारोबार पर कब्जा कर लिया। इसके बाद वे बुनकरों से कम कीमत पर ज्यादा कपड़ा तैयार करने को कहने लगे।

इस्लाम कहते हैं, ‘लेकिन यह मुश्किल था क्योंकि फुटी करपास से कपड़ा तैयार करने के लिए एक खास तरह की स्किल की जरूरत होती है। यह काफी श्रम साध्य और खर्चीली प्रक्रिया है और कई बार तो पूरे दिन के काम के बाद आठ ग्राम कपड़ा तैयार होता है।’

‘कई बार कारीगरों को एक खास स्टैंडर्ड का कपड़ा बुनने के लिए पैसा एडवांस दिया जाता था लेकिन कपड़ा उस स्टैंडर्ड पर खरा न उतरने पर पैसा वापस करना पड़ता था। जल्दबाजी में काम उस स्टैंडर्ड का काम नहीं हो पाता था क्योंकि ज्यादा से ज्यादा कपड़ा तैयार करने का भी दबाव था।’

बाद में ब्रिटिश कारोबारियों ने इसका बड़े पैमाने पर मशीनों से उत्पादन का फैसला किया ताकि ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाया

जा सके। लेकिन साधारण कपास से तैयार मलमल, हाथ से बुने ढाका की मलमल का मुकाबला नहीं कर पा रही थी।

इस तरह दशकों तक इस उद्योग के साथ हुए दुर्व्यवहार और आयातित कपड़े की मांग घटने से ढाका का मलमल उद्योग खत्म हो गया। बाद में इस इलाके में युद्ध, गरीबी और भूकंप की वजह से बचे-खुचे बुनकरों ने भी कम गुणवत्ता के कपड़े बनाने शुरू कर दिए और कुछ पूरी तरह खेती-बाड़ी करने लगे। आखिरकार मलमल का पूरा कारोबार की चौपट हो गया।

### ढाका के मलमल को पुनर्जीवित करने की कोशिश

बांग्लादेश में पैदा हुए इस्लाम 20 साल पहले लंदन चले गए थे। 2013 में उन्हें ढाका के मलमल के बारे में पता चला। लेकिन ढाका के मलमल को पुनर्जीवित करने के इरादे का सबसे बड़ा रोड़ा फुटी करपास के पौधे का खत्म हो जाना था।

इस्लाम ने कीव के रॉयल बोटैनिकल गार्डन में एक बुकलेट खोज निकाली, जिसमें फुटी करपास के पत्ते सुखा कर रखे गए थे। यहां से उन्होंने इसकी डीएनए सिक्वेंसिंग करवाई। इस्लाम बांग्लादेश लौटे और मेघना नदी के पुराने मानचित्रों का अध्ययन किया।

यह पता किया कि पिछले दो सौ साल में इसकी धारा कैसे बदली। फिर एक नाव लेकर कम से कम नदी की बारह किलोमीटर की चौड़ाई में सारे जंगली पौधों की तलाश की। खासकर उन पौधों की जो बुकलेट की तस्वीर से मिलते थे।

आखिर में उन्हें फुटी करपास से 70 फीसदी मिलता-जुलता पौधा मिला। यह फुटी करपास का पूर्वज हो सकता था। इस्लाम और उनकी टीम ने फुटी करपास की खेती कोशिश की लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली।

आखिरकार उन्होंने भारतीय बुनकरों से मिलकर साधारण कपास और फुटी करपास को मिलाकर हाइब्रिड धागा तैयार करने में सफलता हासिल की। अब तक इस हाइब्रिड मलमल से उनकी टीम ने कई साड़ियां बनाने में कामयाबी हासिल कर ली है।

इन साड़ियों को दुनियाभर में प्रदर्शित किया गया है। कुछ तो हजारों पाउंड में बिकी हैं। इस्लाम को जिस तरह से इस नए मलमल का स्वागत होते हुए दिखा, उससे अब उन्हें इस कपड़े का भविष्य नजर आने लगा है।

कौन जानता है कि जल्द ही कोई नई पीढ़ी इस कपड़े को बुनना पसंद करने लगी और यह नायाब कपड़ा फिर अपने अतीत से उबर कर पुराना गौरव हासिल कर सकेगा।

साभार : [bbc.co.uk/hindi](http://bbc.co.uk/hindi)

# इन लोक कलाकारों को बचाए बिना देश की संस्कृति को बचाने की बात भी कैसे की जा सकती है?

अश्वनी कबीर

//

जो कठपुतली कला मनोरंजन से लेकर जन जागृति तक का सशक्त माध्यम रही वह महज होटलों,  
विदेशी सैलानियों और मेलों तक ही सिमट कर कैसे रह गई है?

समय-समय पर कला जगत में लोक कलाओं के संरक्षण और उनके संवर्धन पर विमर्श जोर-शोर से चलता रहता है। ऐसा होने पर लोक कला के विकास के नारे चारों तरफ गूंजने लगते हैं और सरकार से लेकर सामाजिक संस्थाएं और कॉरपोरेट जगत भी लोक कला के बचाव की लड़ाई में उतर जाते हैं।

इतना ही नहीं, डाइंग आर्ट्स को बचाने के लिए सरकारी विभाग टेंडर पर टेंडर जारी करने लगते हैं। लेकिन इन कलाओं से जुड़े लोक कलाकारों के जीवन को देखकर एक ही बात समझ में आती है कि इस तरह के प्रयास कितने असफल साबित हो रहे हैं!

कठपुतली कलाकार अजमेरी लाल भाट मध्य-प्रदेश के इंदौर शहर में एक सड़क के किनारे तम्बू डालकर रह रहे हैं। करीब 40 वर्षीय अजमेरी लाल से बातें करने पर पता चलता है कि वे किस कदर हताशा से भरे हुए हैं। वे वर्षों से कठपुतली का खेल दिखाते आए हैं। उनका पूरा परिवार इसी काम में लगा हुआ है। लेकिन आज उन्हें अपना पेट पालने के लिए मजदूरी करने जाना पड़ता है। कभी काम मिल जाता है तो कभी खाली हाथ ही वापस लौटना पड़ता है।

अजमेरी लाल के पास जमा-पूंजी के नाम पर एक फटा हुआ तम्बू और उसमें रखी हुई कुछ चीजें ही हैं। उनके तम्बू में एक झोला है जिसमें कुछ कठपुतलियां रखी हुई हैं। एक पोटली है

जिसमें सर्दियों के फटे-पुराने चार-पांच कपड़े हैं। एक ढोलक है और लकड़ी का एक दरबार। तम्बू में एक ओर जिन पर सोने की जगह है और दूसरी ओर तीन-चार बर्तन रखे हुए हैं। तम्बू के बाहर एक मिट्टी का चूल्हा है जिस पर वे जब बना सकते हैं अपना खाना बनाते हैं।

अजमेरी लाल मूलतः राजस्थान के रहने वाले हैं और जैसा कि उनके नाम से स्पष्ट है वे घुमन्तू समुदाय 'भाट' से आते हैं। 'हमारी कला सम्पूर्ण कला है। हम अनपढ़ जरूर हैं फिर भी हम खुद ही नाटक बनाते हैं, उनके संवाद याद करते हैं, कठपुतली बनाते हैं, उनको सजाते हैं फिर उनको नचाते हैं' अजमेरी लाल हमें बताते हैं उसका एक मतलब यह भी है कि इस कला में कई कलाओं का मिश्रण है : लेखन, नाट्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला, काष्ठकला, वस्त्र-निर्माण कला, रूप-सज्जा, संगीत, नृत्य इत्यादि।

'एक समय था जब हम गधों पर बैठकर गांव-गांव में जाते थे और अपनी कला के जरिए मौखिक इतिहास को सुनाते, सामाजिक प्रसंगों को अपने गीतों के जरिए लोगों के सामने रखते थे। गांव के बड़े-बूढ़े, महिलाएं और बच्चे बहुत चाव से हमें देखते थे। लेकिन आज समय बदल गया है। आज कोई भी हमें देखना पसंद नहीं करता। अब हम होटल और विदेशी सैलानियों पर ही निर्भर हो गए हैं' अजमेरी लाल बताते हैं।

ऐसा नहीं है कि ये हालात सिर्फ मध्य प्रदेश के लोक कलाकारों के ही हैं। कमोबेश यही हालत राजस्थान के कलाकारों की भी है। जयपुर की कठपुतली कॉलोनी में उम्र करीब 35 वर्ष की गुड्डी तम्बू के एक कोने में बैठकर किसी चीज को सिल रही हैं। उनके बुजुर्ग सदियों से कठपुतली बनाते रहे हैं। गुड्डी भी यही काम करती हैं। उनके तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। पति को गुजरे तीन साल हो चुके हैं। हम उनसे पूछते हैं तो वे बताती हैं कि न तो उन्हें विधवा पेंशन मिलती है और न ही उनके पास बीपीएल राशन कार्ड है। वे जिस तम्बू में रहती हैं उसका 250 रुपये महीने का किराया है।

गुड्डी कहती हैं, 'हमें तो लॉकडाउन में कोई सहायता नहीं मिली और न ही लॉकडाउन खुलने के बाद कुछ हो हुआ। हम दिन का खाना नजदीक के मंदिर में लगने वाले लंगर में खाते हैं और शाम को कभी कुछ बना लेते हैं और कभी ऐसे ही रहना पड़ता है।'

गुड्डी कहती हैं कि 'मैं 52 अलग-अलग, रूप रंग और कद काठी की कठपुतली बनाती हूँ। मेरी कठपुतली में राजस्थान के 24 राजपरिवारों का वर्णन है। हम लोग राजस्थान के 24 राज परिवारों के इतिहास को कठपुतली नाच के जरिए बताते हैं। इसके अलावा हम मीरा, लैला-मजनू की भी कठपुतली बनाते हैं।'

हिंदुस्तान में पुतली निर्माण की चार शैलियाँ प्रचलित हैं : धागा पुतली, छाया पुतली, छड़ पुतली और दस्ताना पुतली। इन सभी के नाम उनके निर्माण में लगी सामग्री, बनावट और प्रदर्शन के तरीके आदि के आधार पर दिये गये हैं।

### छाया पुतली

छाया पुतलियाँ अक्सर चमड़े से बनाई जाती हैं और वे चपटी या बहुत पतली होती हैं। इनके प्रदर्शन के लिए पर्दे पर पीछे से प्रकाश डाला जाता है और पुतलियों का संचालन प्रकाश स्रोत तथा पर्दे के बीच में किया जाता है। इनकी छायाकृतियाँ रंगीन भी हो सकती हैं। छाया पुतली की परंपरा ओडिशा, केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में प्रचलित है। इनको क्षेत्रीय भाषाओं में अन्य नामों से जाना जाता है जैसे तोगलु गोम्बयेट्टा (कर्नाटक), तोलु बोम्मालट्टा (आंध्र प्रदेश), रावण छाया (ओडिशा) आदि छाया पुतलियों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

### दस्ताना पुतली

इसे भुजा, कर या हथेली पुतली भी कहा जाता है। इसमें एक दस्तानानुमा कठपुतली होती है जिसमें हाथ डालकर तर्जनी (अंगूठे से सटी उंगली) को कठपुतली के माथे पर रखा जाता है

तथा मध्यमा और अंगूठे को उसकी दोनों भुजाओं में। इस प्रकार अंगूठे और दो उंगलियों की सहायता से दस्ताना पुतली सजीव हो उठती है। भारत में दस्ताना पुतली की परंपरा उत्तर प्रदेश, ओडिशा, पश्चिम बंगाल और केरल में लोकप्रिय है। केरल में पारंपरिक पुतली नाटकों को पावाकथू कहा जाता है। इनकी शुरुआत 18वीं शताब्दी में प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य कथकली के प्रभाव के कारण हुई। केरल के ये पुतली नाटक रामायण और महाभारत की कथाओं पर आधारित हैं।

### छड़ पुतली

छड़ पुतली जैसे तो दस्ताना पुतली का ही अगला चरण है, लेकिन यह उससे काफी बड़ी होती है तथा नीचे स्थित छड़ों (डंडे) पर आधारित रहती है और उन्हीं से संचालित होती है। पुतली कला का यह रूप वर्तमान समय में पश्चिम बंगाल तथा ओडिशा में प्रचलित है। बंगाल का पुतल नाच, बिहार का यमपुरी आदि छड़ पुतली के उदाहरण हैं। ओडिशा की छड़ पुतलियाँ बहुत छोटी होती हैं। जापान की 'बनराकू' की तरह पश्चिम बंगाल के नदिया जिले में आदमकद छड़ पुतलियाँ होती थीं, किंतु कठपुतलियों का यह रूप अब विलुप्त हो गया है।

### धागा पुतली

इसमें लकड़ी के कई जोड़ों वाले अंग होते हैं जिनका संचालन धागों द्वारा किया जाता है। अंगों में कई जोड़ होने की वजह से ये पुतलियाँ काफी लचीली होती हैं। राजस्थान, ओडिशा, कर्नाटक और तमिलनाडु में धागा पुतलियों की कला विकसित हुई। राजस्थान की कठपुतली, ओडिशा की कुनदेई, कर्नाटक की गोम्बयेट्टा तथा तमिलनाडु की बोम्मालट्टा धागा पुतली कला के प्रमुख उदाहरण हैं। लकड़ी की होने की वजह से सही मायनों में ये ही कठपुतली होती हैं : कठ यानी लकड़ी से बनी पुतलियाँ।

पुतली निर्माण शैली में राजस्थानी की धागा शैली बेहद खास है। यहां की कठपुतलियों की आंखें, भोहें और होंठों का आकार उन्हें खास बनाता है। उनके पहनावे और गीतों में यहां के राजघरानों और आम जनजीवन की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है।

भारत में कठपुतली कला ज्ञात लोक कलाओं में सबसे पुरानी है। कुछ जानकारों के मुताबिक नाटकों के मंचन की शुरुआत इसके बाद ही हुई थी। यह कब से शुरू हुई इसकी कोई निश्चित तिथि तो नहीं है किंतु ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में लिखे गये पाणिनी के अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख मिलता है। महाभारत और गीता जैसे धर्म ग्रंथों में भी इसका जिक्र है। पुतली कला की प्राचीनता के संबंध में प्रसिद्ध तमिल

ग्रंथ 'शिल्पादिकारम' में भी जानकारी मिलती है। और चर्चित कथा 'सिंहासन बत्तीसी' में विक्रमादित्य के सिंहासन की 32 पुतलियों का उल्लेख मिलता है।

राजस्थान के भाट समुदाय के अध्यक्ष धन्ना राम भाट (उम्र 80 वर्ष) बताते हैं कि 'कठपुतली के खेल में जो 52 कठपुतलियां होती हैं वे अलग-अलग किरदारों को समर्पित होती हैं। हम पूरा मुगल दरबार सजाते हैं जिसे दिल्ली दरबार भी कहा जाता है। इनकी संख्या बत्तीस से बावन होने के पीछे कोई ठोस कारण नहीं पता, शायद जैसे-जैसे राज परिवारों की संख्या बढ़ती गई, समाज में नये नये समुदाय बने वैसे-वैसे कठपुतलियों की संख्या भी बढ़ती गई।।

'मौसम के मुताबिक कठपुतली के गीत भी बदल जाते हैं। पहले गांव की चौपाल में, शाम के समय, लकड़ी का दरबार लगाकर ये खेल दिखाया जाता था। इस खेल में 3-4 घंटे का समय लगता था' धन्ना राम आगे बताते हैं कि बाजरे की कटाई के समय हमारा एक चर्चित लोक गीत है : 'चोमाशयो लाग्यो रे, शियडो लाग्यो रे, म्हारी दोराणी-जेठानी रूस गई, जब चोमाशयो लाग्यो रे, बणी का मोरया बोल्यो, शियडो लाग्यो रे।'

धन्नाराम बताते हैं कि भाट लोग गांव-गांव में जाकर शाम को चौपाल में इस गीत को सुनाते, इस गीत में यह बताया है कि बारिश का समय हो गया है। अब मोर बोलने लगे गए हैं और बाजरे की फसल काटने का वक्त आ गया है। आप फसल काटना शुरू कर दीजिए। सामूहिक परिवार होता है तो देवरानी ओर जेठानी में रूठने-मनाने का सिलसिला चलता है जो इस गीत में मनोरंजन का हिस्सा बनाता है। हालांकि इसका मुख्य कार्य मौसम की सूचना देना था। ऐसे ही सोनी महिवाल, पृथ्वीराज चौहान, महाराणा प्रताप, अकबर, भोपा-भोपी, लुहार-लुहारी, सरसों की कटाई के गीत, शादी-विवाह के समय बन्ना इत्यादि गीत भी पुतली कला की विशेषता रहे हैं।

हमारे जेहन में यह सवाल उभर सकता है कि जो कठपुतली कला मनोरंजन से लेकर जन जागृति तक का सशक्त माध्यम रही। जिसने हमारी सामूहिक स्मृतियों को गढ़ा। जो आज भी बच्चों में सर्जनात्मकता, सीखने की क्षमता का विकास करती है। ऐसा क्या हुआ कि यह कला महज होटलों, विदेशी सैलानियों और मेलों तक सिमट कर रह गई?

भारतीय लोक कला सिर्फ आजीविका कमाने का जरिया कभी नहीं रही बल्कि अपने विश्वासों, परंपराओं और मान्यताओं के अनुरूप अपने सामाजिक जीवन को ढालने के प्रयास करना इसका प्रमुख लक्ष्य रहा है। भारतीय समाज के सुख-दुःख, रीति-रिवाज, परम्परा, इतिहास और धार्मिक विश्वास अर्थात जीवन

के हरेक पक्ष की अभिव्यक्ति लोक कलाओं के माध्यम से होती रही है।

लोक कला की कच्ची सामग्री यानी उसके किरदार और कथानक उसी परिवेश से लिए जाते हैं जिसे यह समृद्ध बनाती है। लोक कलाकार की समाज के साथ जुगलबन्दी से उसकी कला विकसित होती है। यदि लोक कलाकार बचेगा, यह जुगलबन्दी बचेगी तो ही लोक कलाएं बचेंगी।

आधुनिक दौर में दिल बहलाने के साधनों में अपार वृद्धि हुई है। आज महानगरों में रहने वाले अधिकांश बच्चों व युवाओं को कठपुतली के खेल के बारे में जानकारी तक नहीं है। वे हर वक्त मोबाइल और कंप्यूटर से चिपके रहते हैं। ऊपर से हम लोक कलाओं को संरक्षण देने की बात तो करते हैं लेकिन हम न तो लोक कलाकारों को संरक्षण दे रहे हैं और न ही उन्हें इसकी किसी प्रक्रिया में शामिल कर रहे हैं।

जानकारों के मुताबिक हालात ये हैं कि मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे राज्यों की कला से जुड़ी संस्थाओं को यह तक नहीं पता कि इनके पास कितने लोक कलाकार हैं, कितने तरह के फोक इंस्ट्रूमेंट्स हैं, कितने तरह की फोक संगीत की शैलियां हैं और इन राज्यों में कितनी तरह के फोक इंस्ट्रूमेंट समाप्त हो गए हैं। पिछले 15 वर्षों में उत्तर भारत के इन राज्यों में डाईंग आर्ट्स और उनके वाद्यों को बचाने के नाम पर करोड़ों के टेंडर जारी हुए हैं। उनका परिणाम क्या निकला यह किसी को नहीं पता।

उदयपुर के प्रख्यात संस्कृतिकर्मी विलास जानवे कहते हैं कि 'ये लोक से कलाओं के बिछुड़ने का दौर है। लॉकडाउन ओर उससे उपजे हालातों का जो सबसे बड़ा भुक्तभोगी रहा है वो लोक कलाकार ही है। किन्तु किसी भी सरकार या विभाग का उनके लिए कुछ करना तो दूर, उनको किसी विमर्श तक में शामिल नहीं किया जाता।'

जानवे आगे कहते हैं कि 'हिंदुस्तान की विश्व गुरु की पहचान का बड़ा आधार हमारी ये रंग-बिरंगी संस्कृति ही है जिसे ये छुटभैये अधिकारी समाप्त करने में लगे हुए हैं। जब ये पहचान ही चली जायेगी तो विश्व गुरु कैसे बनेंगे।'

हमने अपनी पिछली रिपोर्ट में देखा था कि राजस्थान सरकार ने लॉकडाउन में लोक कलाकारों को सहायता देने के नाम पर किस तरह का खेल खेला है। अब राजस्थान सरकार के कला एवं संस्कृति विभाग ने एक नया कारनामा किया है। लोक कलाकारों का डेटा बेस तैयार किया जा रहा है। यह डेटा बेस गूगल फॉर्म के जरिये तैयार हो रहा है। गूगल फॉर्म इतना लंबा-चौड़ा है जिसे भरने के लिए एक सप्ताह भी कम पड़ जाये। और

यह गूगल फॉर्म भरेगा कौन? वे लोक कलाकार जिनमें से ज्यादातर को अपना नाम तक लिखना नहीं आता।

यह स्थापित तथ्य है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और तमाम वे राज्य जो अपने लोक संगीत के लिए जाने जाते हैं, वहां अधिकांश लोक कलाकार अनपढ़ हैं। वे कहां से ये ताम-झाम करेंगे। सवाल यह है कि जब इन विभागों के पास लोक कलाकारों की कोई सूची नहीं है तो फिर आज तक इन्होंने किया क्या है? ये तो वे स्थान हैं जो कठिन समय में लोक कलाकार को थामते हैं उसके जीवन को उम्मीद देते हैं।

### कठपुतली में छुपी संभावनाएं

#### शिक्षा का सशक्त और दिलचस्प माध्यम

जब बड़े शहरों के कुछ निजी विद्यालय बच्चों को शिक्षा देने के लिए कठपुतली कला को माध्यम बना सकते हैं तो सरकारी स्कूलों में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? इससे लोक कला भी बचेगी, लोक कलाकार भी बचेगा और बच्चों की सीखने की क्षमता का विस्तार भी होगा।

आज दिल्ली, देहरादून, केरल इत्यादि स्थानों पर शिक्षा में कठपुतली का प्रयोग हो रहा है। आखिर यह कार्य मध्य प्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़ की सरकारें क्यों नहीं करती? यह हमें पता है कि कठपुतली के जरिये बच्चों में सर्जनात्मकता का विकास होता है। उनमें जानने की रुचि पैदा होती है तो हम इसका प्रयोग बड़े पैमाने पर क्यों नहीं करते?

#### सरकारी योजनाओं की जानकारी

जैसलमेर के किले के पास कठपुतली नचाने वाले ज्ञानी भाट बहुत उपयोगी और सुंदर सुझाव देते हुए कहते हैं कि अखबार में एक विज्ञापन देने के लिए विभिन्न सरकारें लाखों-करोड़ों रुपए खर्च कर देती हैं। पिछले दिनों मीडिया में छपी रिपोर्ट्स की माने तो केंद्र सरकार ने पिछले एक वर्ष में औसतन हर दिन एक करोड़ से ज्यादा रुपया मीडिया में योजनाओं की जानकारी देने में खर्च किया है।

‘हम ये अच्छे से जानते हैं कि अखबार पढ़ते कितने लोग हैं? डिजिटल न्यूज पोर्टल को देखते कितने लोग हैं। और यहां विज्ञापन केवल एक दिन के लिए छपता है जबकि उस पैसे में हमारे जैसे सैकड़ों लोगों की जीविका चल सकती है। हम लोग गांव-गांव जाकर लोगों को अपनी कला के जरिये सरकारी योजनाओं की जानकारी दे सकते हैं। इससे इन योजनाओं की

प्रभावशीलता बढ़ेगी। लोक कलाकारों को रोजगार मिलेगा और ये कला भी बचेगी।

#### बीमारियों के रोकथाम में उपयोग

किसी भी देश का स्वास्थ्य क्षेत्र तीन अप्रोच पर कार्य करता है : प्रिवेंटिव, क्यूरेटिव और प्रोमोटिव अप्रोच। भारत में 40 फीसदी बीमारियां रोकथाम से जुड़ी हैं। यदि ऐसी बीमारियों से मरने वालों की संख्या देखें तो इसमें राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड सबसे आगे हैं। यदि इन बीमारियों से रोकथाम के उपाय कर लिये जाएं तो कुल स्वास्थ्य बजट का 40 फीसदी हिस्सा बचाया जा सकता है। कठपुतली कला इससे जुड़ी जानकारी को आम जन तक पहुंचाने का सशक्त और प्रभावशाली माध्यम बन सकती है।

ज्यादातर राज्य सरकारों ने आज तक डाइंग आर्ट्स पर जो काम किया है उसे पब्लिक डोमेन में नहीं रखा गया है। सरकारी पैसे से लोककलाओं और कलाकारों पर जो डॉक्यूमेंट्री बनीं, जो किताबें छपीं, जितना शिल्प और फोक संगीत पर कार्य और शोध हुआ उसके बारे में कोई भी जानकारी हासिल करना संभव नहीं है।

सत्याग्रह ने राजस्थान सरकार के कला एवं संस्कृति विभाग की नवनियुक्त सचिव मुग्धा सिन्हा को इस बारे में लिखा किन्तु उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। मध्य प्रदेश के कला एवं संस्कृति विभाग का रवैया भी इस मामले में अलग नहीं था। हमने इस मामले में विभाग के पूर्व अधिकारियों से भी बात करने की कोशिश की तो ज्यादातर ने ऑन-रिकॉर्ड कुछ भी कहने से इनकार कर दिया।

पिछले 60 वर्षों से लोक कला व लोक वाद्य के संरक्षण में जुटे जैसलमेर मरु सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक नंद किशोर शर्मा कहते हैं कि ‘हमारे इन अधिकारियों ने कला केंद्रों को महज परफार्मिंग सेन्टर बनाकर छोड़ दिया है। कहीं कोई शोध, संरक्षण और संवर्धन का कार्य नहीं चल रहा।’

वे आगे कहते हैं कि ‘पूरे हिंदुस्तान भर में कोई भी राज्य यह नहीं कह सकता कि उसने लोक कलाकारों व लोक कला के संरक्षण हेतु कोई एक ठोस काम किया हो। वो समय दूर नहीं जब हमारी आने वाली पीढ़ियां हमारे इन कार्यों से शर्मिदा होंगी कि कैसे उनके पुरखों ने सदियों पुरानी इस लोक संस्कृति को यूं ही समाप्त होने दिया।’

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए